प्रकाशक
विद्यावती देवी
वाणी-मन्दिर-प्रेस, छपरा (बिहार)

तृतीय संस्करण : दो हजार
मूल्य : ढाई रुपये
जून, १९४९ ई०

मुद्रक
विद्यावती देवी
वाणी-मन्दिर-प्रेस, छपरा (बिहार)

प्रेमचन्दजी

को

जो अब यहाँ नहीं हैं

वक्तव्य



समीक्षा को भी मैं एक प्रकार का सत्यान्वेषण ही समझता हूँ और इस छोटी-सी पुस्तक के द्वारा, अपने जानते, अपनी उसी विनम्र चेष्टा का परिचय दे रहा हूँ जो एक सत्यान्वेषी समीक्षक के आत्मविश्वास तथा उसके उद्देश्य की सचाई से सम्बन्ध रखती है। यह दूसरी बात है कि जिसको मैं 'सत्य' के रूप में ग्रहण कर रहा हूँ उसको दूसरे-दूसरे लोग कुछ और ही समझते हों। पर ऐसा तो हुआ ही करता है। सत्य का अनुसन्धान भी कई तरह से किया जाता है और उसकी अनुभूति भी सबको एक ही प्रकार की नहीं हुआ करती। जिस कलाकार को मैं प्रेम का प्रसारक समझता हूँ, उसी को कोई सज्जन घृणा का प्रचारक समझ सकते हैं। यह तो अपनी-अपनी अध्ययन-शक्ति, अनुभूति, मनोवृत्ति और नैतिक संस्कृति का फल है। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं-कहीं 'सत्य' के पहचानने में मुझसे भूल हो गई हो। सो, इस प्रकार के भूलों को सुधारने के लिए तो मैं बराबर तैयार ही रहता हूँ और अपने को उन कृपालु सज्जनों का आभारी समझता हूँ जो मुझे मेरी वास्तविक भूलें बताकर उपकृत किया करते हैं।

इस पुस्तक को तैयार करने में 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'प्रतिज्ञा', 'गबन' और 'कर्मभूमि' के प्रथम संस्करण की प्रतियों से काम लिया गया है तथा 'निर्मला' के द्वितीय,

'गोदान' के तृतीय और 'सेवासदन' के चतुर्थ संस्करण की प्रतियों से।

प्रेस एक ऐसी जगह है जहाँ महान साहित्य-स्रष्टा 'रवि बाबू' तक को 'कवि बम्बू' बन जाना पड़ता है! फिर बेचारे 'साहित्य' को अगर 'साहित्त्य' बन जाना पड़े तो आश्चर्य ही क्या? इतनी सतर्कता से काम लेने पर भी पुस्तक में प्रूफ की भूलें रह ही गईं। इसके लिए मैं अब, अपनी ओर से और प्रेस की ओर से, क्षमा माँगने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हूँ!

हाँ, इस अवसर पर, जब कि इस पुस्तक को द्वितीय संस्करण का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, मैं अपने पाठकों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता! आशा है, इसको इस परिमार्जित और परिवर्द्धित रूप में देखकर उन्हें प्रसन्नता होगी। पर मेरी प्रसन्नता का प्रकाश उस शोक के अंधकार से ढका हुआ है जो 'प्रेमचन्द' के अस्त हो जाने से सम्बन्ध रखता है। आज रह-रहकर उनकी स्मृति विकल बना रही है। जिस पुस्तक के पहले संस्करण की पहली प्रति उनके हाथों पर रखते हुए अनुपम आह्लाद का अनुभव किया था उसी का दूसरा संस्करण समर्पित करने के लिए आज मुझे अश्रु-विह्वल होकर उनके उन अलभ्य चरणों की करुण कल्पना करनी पड़ रही है जिन पर मेरे मस्तक के बदले इन दिनों देवताओं के वरदान लोट रहे होंगे!

प्रस्तुत पुस्तक के इस तीसरे संस्करण के शुभावसर पर मैं अपने पाठकों के प्रति कृतज्ञता परिज्ञापित करता हूँ और अपने प्रकाशकों को बधाइयाँ देता हूँ।

पूर्णियाँ-कालेज, पूर्णिया
३ जून, १९४९ ई०

ज० प्र० द्विज

सूची

५—देश-काल का प्रतिबिम्ब

समाज के भिन्न-भिन्न अंगों तथा स्वरूपों का विश्लेषण—सामयिकता की छाप—सामयिकता के भीतर कला की चिरन्तनता—काल-दोष (पृ० ६८-१०६) ।

६—भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना

भाषा की स्वाभाविकता-वस्तु, पात्र और देश-काल के साथ भाषा का मेल-सरल, स्वच्छ, सबल और कवित्वपूर्ण शैली—भाव और शैली का समन्वय—भावाभिव्यक्ति की प्रणाली (पृ० ११०-१३१)

७—उद्देश्य-पालन

प्रेमचन्द की कला का उद्देश्य—जीवन की समीक्षा—सत्यता और कल्पना—तथ्यवाद और आदर्शवाद—नीति-शिक्षा और उसका कलात्मक मूल्य (पृ० १३२-१४४) ।

८—उपसंहार

प्रेमचन्द तथा हिन्दी के अन्य औपन्यासिक—प्रेमचन्द और 'प्रसाद'—प्रेमचन्द और 'कौशिक'—प्रेमचन्द और वृन्दावन लाल—प्रेमचन्द तथा चतुरसेन और 'उग्र'—प्रेमचन्द और जैनेन्द्रकुमार—अनुभूति-भेद—प्रेमचन्द तथा देश-विदेश के कुछ अन्य औपन्यासिक—प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ—प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र—प्रेमचन्द्र और 'हार्डी'—प्रेमचन्द और 'गाल्सवर्दी'—प्रेमचन्द 'गोर्की'--'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' (पृ० १४५-१५८) ।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

विषय-प्रवेश

हम केवल अपने-आपको ही अभिव्यक्त करके संतुष्ट नहीं हो जाते, औरों के जीवन की बाहरी तथा भीतरी स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी जो मनोवृत्ति हमें मानव-व्यापार की इस अनुरक्ति-सीमा के बाहर नहीं निकलने देती, और दूसरों के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ सुनने, जानने, समझने तथा कहने के लिए उत्सुक बनाये रहती है, उसी की प्रेरणा का परिणाम है कथा-साहित्य।

कथा-साहित्य का उद्भव

इसका काम केवल हँसाना, रुलाना, मनोरंजन करना तथा उपदेश देना ही नहीं था, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति, दर्शन और साधारण शिष्टाचार से सम्बन्ध रखनेवाली छोटी-मोटी बातों पर भी इसी के द्वारा प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती थी। बड़े-बड़े ज्ञानोपासकों तथा धर्मोपदेशकों ने इसी की सहायता से अपने कर्म-पथ को सुगम बनाया, उद्देश्य-सिद्धि के प्रयत्न में सफलता प्राप्त की।

इसके विस्तार का कारण

सामाजिक तथा कलात्मक स्थिति के परिवर्त्तन-चक्र द्वारा परिचालित मानव-प्रवृत्ति, जैसे-जैसे अपनी प्रेरणा को प्रगतिशील बनाती जाती है वैसे-ही-वैसे उसमें उद्भावना-शक्ति का विकास होता जाता है और उसी के फल-स्वरूप होता है कथा-साहित्य के वैभव का विस्तार।

हिन्दी के कथा-साहित्य का विकास-क्रम

हिन्दी के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रेरणा और उद्भावना-शक्ति का प्रथम साक्षात्कार हमें 'रानी केतकी की कहानी' ने कराया। हमारे कथा-साहित्य के इतिहास में न तो इसके पहले किसी प्रकार के उल्लेखनीय महत्त्व का आगमन् हुआ था, न कुछ दिनों तक इसके पीछे ही हुआ—बस, संस्कृत-साहित्य से ली हुई पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं की ही प्रधानता रही। हाँ; इसके बाद, भारतेन्दु-काल में आकर इसकी विकास-धारा नये वेग से चली—और खूब चली। किन्तु, उस 'वेग' में भी बाहर से ही

आधुनिक काल की मौलिक कहानियों के विकास में काशी के 'इन्दु' का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। मौलिकता की प्रतिमूर्ति बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नामक पहली कहानी उसी में छपी थी और पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की विख्यात कहानी 'परदेसी' को भी प्रकाश में लाने का गौरव उसी को प्राप्त हुआ था। उसमें बराबर अच्छी-अच्छी मौलिक कहानियाँ निकलती रहीं और उनके द्वारा हिन्दी के गौरव की अभिवृद्धि होती रही।

'इन्दु' द्वारा मौलिकता की अभिवृद्धि

इसी तरह, धीरे-धीरे, हिन्दी की कहानियों में मौलिकता के वैभव बढ़ने लगे। 'सरस्वती', 'इन्दु' और 'गृहलक्ष्मी' आदि में नई-नई कहानियाँ निकलने लगीं। प्रसाद जी, जिज्जा जी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री चतुरसेन शास्त्री प्रभृति प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाएँ हिन्दी के पाठकों के लिए अभिनव आशा और अपूर्व उल्लास ले आईं।

मौलिक कहानी-लेखक

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जिस समय आधुनिक काल की मौलिक कहानियों का विकास हो रहा था उस समय तक हिन्दी में कुछ मौलिक उपन्यास भी आ गये थे। सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री की रचनाएँ बहुत पहले ही से ख्याति पाये

मौलिक उपन्यास लेखक

चली आ रही थीं। यद्यपि उनके उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई भी साहित्यिक तत्त्व नहीं है, फिर भी उनका निजी महत्त्व है। उनकी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार किया है।

उपन्यासों का पर्वत खड़ा करनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यास-लेखक थे पं० किशोरीलाल गोस्वामी। उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौन्दर्य्य का अभाव नहीं है। किन्तु वह सौन्दर्य्य कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चटकीला और कुप्रभावोत्पादक हो गया है। उनकी रस-संचार की प्रणाली कुछ-कुछ असात्त्विक भावों और दृश्यों को भी अपने साथ रखती हुई-सी दीख पड़ती है। फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने, मौलिकता के नाते, हिन्दी के इस क्षेत्र में बड़ी मुस्तैदी से काम किया और उनमें उपन्यासकार होने की सच्ची क्षमता थी। यह दूसरी बात है कि उस क्षमता को वे बहुत अच्छे ढंग से, बहुत अच्छी रुचि के साथ, काम में न ला सके।

मौलिक उपन्यास तो दो 'हरिऔध' जी ने भी लिखे— 'ठेठ हिंदी का ठाट' और 'अधखिला फूल'—पर, केवल भाषा का नमूना दिखाने के लिए, उपन्यास-कला की दृष्टि से नहीं।

इसी तरह मेहता लज्जारामजी ने भी 'धूर्त रसिक लाल', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू' आदि छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। किन्तु उनमें भी औपन्यासिक होने की क्षमता प्रायः नहीं-ही के बराबर थी।

हाँ, भाव-प्रधान शुद्ध साहित्यिक उपन्यास प्रस्तुत करने का श्रेय

बाबू ब्रजनन्दन सहाय को अवश्य मिलना चाहिये। इनके 'लालचीन' 'सौन्दर्योपासक' तथा 'राधाकान्त' नामक उपन्यास बहुत ही अच्छे हैं।

प्रेमचंद का उदय और कथा-साहित्य में युगान्तर

इन मौलिक उपन्यासों तथा नये ढंग की मौलिक कहानियों ने मौलिकता का मार्ग प्रशस्त अवश्य बना दिया, पर अभी तक वह जैसे सूना-सा मालूम पड़ता था। अपनी अलौकिक प्रतिभा का तेज बरसाते हुए, पूरी सजधज के साथ, उस मार्ग पर सम्राट् की तरह चलनेवाले 'प्रेमचन्द' जी अभी तक हिन्दी के क्षेत्र में नहीं आये थे। इनकी कला अभी तक उर्दू-साहित्य की ही उज्ज्वलता बढ़ा रही थी, उसी को गौरव-ज्योति प्रदान कर रही थी। हमारे साहित्याकाश में इनका प्रथम उदय तो सन् १९०५ ई० में ही समझा जाना चाहिए, जब प्रयाग के इण्डियन प्रेस से इनकी 'प्रेमा' निकली थी। पर वह इनका प्रकाश न फैला सकी। और, सन् १९१६ ई० तक, एक तरह से ये कुहरे में ही ढके रहे। हाँ, उसके बाद, जब 'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' में इनकी कहानियाँ निकलने लगीं तब, लोगों ने अनुभव करना प्रारंभ किया कि हिन्दी के कथा-साहित्य में शीघ्र ही युगान्तर उपस्थित होनेवाला है। वही हुआ भी। छोटी-छोटी कहानियों के साथ-साथ ये उपन्यास-रचना में भी प्रवृत्त हुए और इनकी सुन्दर-सुन्दर कृतियों से हिन्दी का उल्लासमय गौरव बढ़ने लगा।

उपन्यास के नाम से हिन्दी को इन्होंने जो पहली चीज दी वह थी वही सन् १६०५ ई० वाली 'प्रेमा'—जो इनके उर्दू 'हम खुरमा व हम सवाब' का अनुवाद है। पर उस छोटी-सी 'जेबी किताब' को कहानी कहना ही ठीक जँचता है। उसमें एक विधवा-विवाह कराने के अतिरिक्त औपन्यासिक के नाते प्रेमचन्दजी ने और कुछ किया भी नहीं है, इसी से लोग उसे उतना जानते भी नहीं। किन्तु, उसके बाद आये हुए—हमारे कथा-साहित्य का कायापलट करनेवाले—इनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास ने हिन्दी-संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। लोगों ने उसे बड़े प्यार और आदर से अपनाया। इसी तरह अपनाई जाने योग्य वस्तु वह थी भी। समाज की रूढ़िग्रस्त दुर्बलताओं तथा दुरवस्थाओं के जो मार्मिक चित्र उसमें खींचे गये हैं वे अत्यन्त कोमल और करुण हैं। उस उपन्यास के कलात्मक सौन्दर्य्य पर लोग इतना अधिक रीझ गये कि उन्हें आशंका होने लगी कि स्वयं प्रेमचन्दजी भी अब इससे अच्छा उपन्यास शायद न लिख सकें।

'प्रेमा' और 'सेवासदन'

लोगों की यह धारणा और भी दृढ़ हो गई जब उसके बाद ही इन्होंने हिन्दी-जगत् को एक छोटा-सा 'वरदान' दिया। यद्यपि यह छोटा-सा उपन्यास भी कला की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट नहीं है, तो भी इसमें 'सेवासदन' के रचयिता की उन्मुक्त प्रतिभा का विस्तार नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि इसकी भी रचना 'सेवासदन' से बहुत पहले ही हो चुकी थी, यद्यपि हिन्दी में आया यह उसके पीछे। 'सेवासदन' के

'वरदान'

पहले ही उर्दू में इन्होंने एक बहुत बड़ा परिहास-प्रधान उपन्यास लिखा था—जो कहीं छप न सका और अब जिसकी पांडुलिपि का भी पता नहीं है। उसी की मूल-कथा-वस्तु लेकर इन्होंने इस उपन्यास की रचना की। इसमें इनकी रचना-शैली का सौन्दर्य्य उतना निखरा हुआ नहीं है—हो भी नहीं सकता था। कर्त्तव्य की कठोर साधना में निरत रहनेवाले पुरुषत्व की प्रेमार्द्रता, अभाव से भरे हुए नारी-हृदय की उद्दीप्त वेदना के साथ मिलकर, क्या-क्या करुण क्रीड़ाएँ करती हैं, इसी का सजीव चित्रण इस पुस्तक का जीवन है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक और सामाजिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली, कितनी ही ऐसी बातें इसमें आ गई हैं जो किसी भी कृति की शोभा कही जा सकती हैं।

'प्रेमाश्रम'

इसके बाद ही लोगों ने 'प्रेमाश्रम' देखा। आशंका जाती रही, आशा ने नये रूप में अपनी झलक दिखाई। कृषक-जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाला यह उपन्यास भी देखते ही देखते लोक-प्रिय बन बैठा। किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की इस करुण कथा के कलात्मक रूप पर भी लोग खूब रीझे

'रंगभूमि'

इसके अनन्तर 'रंगभूमि' आई। जीवन-संग्राम में, सत्याग्रह-द्वारा दिव्य विजय प्रदान करानेवाली निष्काम कर्म-भावना तथा सुदृढ़ आत्मनिष्ठा का महत्त्व प्रदर्शित करनेवाले इस उपन्यास ने भी मानव-स्वभाव के जटिल रहस्यों की

अत्यन्त हृदयग्राही और मनोरंजक व्याख्या की। इसकी लोक-प्रियता से भी एक बार फिर वही आशंका जीवित हो उठी कि ऐसा अच्छा उपन्यास अब प्रेमचन्दजी की लेखनी से शायद ही निकल सके।

'कायाकल्प'

इतने ही में 'कायाकल्प' ने इनकी प्रतिभा को एक नये ही रूप में अभिव्यक्त कर दिखाया। इसके सम्बन्ध में, कम-से-कम, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन-व्यापार की मार्मिकता के नाते, तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति की विश्लेषण-कला की दृष्टि से यह 'रंगभूमि' से भी बढ़कर है। किन्तु, इसमें कथा-तत्त्व की अवहेलना करनेवाली जिस अलौकिकता को प्राधान्य दिया गया है—जन्म-जन्मान्तर की भूखी आकांक्षाओं तथा प्यासी लालसाओं का परिणाम प्रत्यक्ष करने के लिए, जिस अपार्थिव और अविश्वसनीय वातावरण की सृष्टि की गई है—उसके ऊपर, हृदय चाहे रम जाय, विश्वास नहीं जमता। जिस 'कला' पर भाव और बुद्धि की समान आस्था हो वही सब प्रकार से 'पूर्ण' समझी जानी चाहिये। इसमें पाठकों की इस समन्वित आस्था को टिका रखने की क्षमता का अभाव-सा है। तो भी, अपना एक भिन्न अस्तित्व रखनेवाला, यह आकर्षक उपन्यास बहुत ही सुन्दर है। इसके द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर तो मनोरंजक प्रकाश डाला ही गया है, आध्यात्मिक रहस्यों की उद्भावना भी इसमें बड़ी सुन्दरता से की गई है।

'कायाकल्प' के बाद ही 'निर्मला' निकली। इसमें उस

अवाञ्छित विधुर-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाये गये हैं जो, पहली स्त्री से प्राप्त सन्तति के रहते हुए भी, जरावस्था में, केवल वासना-तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है और जो हमारे समाज की निर्दोष बालिकाओं के लिए सबसे बड़ा दाहक अभिशाप है। 'सेवासदन' की तरह यह उपन्यास भी कोमल और करुण भावनाओं से भरा हुआ है। किन्तु, घटना-क्षेत्र के संकोच से, यह उसकी समता नहीं कर सकता।

'निर्मला'

अब 'प्रतिज्ञा' की बारी आई। यह भी, निर्मला की तरह, एक छोटा-सा सुन्दर सामाजिक उपन्यास है। प्रेम-साधना में संलग्न रहकर भी हृदय कर्त्तव्य-भावना के आग्रह का किस प्रकार पालन कर सकता है, जीवन को सेवा और त्याग का आधार बनाकर, उसे 'उत्सर्ग' के रूप में बदलकर, प्रेम के किस मंगलमय रूप का विधान किया जा सकता है, यही इसमें दिखलाया गया है। इसे 'प्रेमा' का ही परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप समझना चाहिए।

'प्रतिज्ञा'

इन छोटे-छोटे उपन्यासों के अनन्तर फिर बड़े उपन्यासों की बारी आई और 'गबन' निकला। इसने हमें बताया कि मनुष्य के जीवन की परिस्थिति, उसकी एक-एक बात का, उसके एक-एक विचार और कार्य का, हिसाब रखनेवाली है। इस हिसाब में उससे कहीं किसी प्रकार की भूल हुई और वह बिगड़ी। एक छोटी-सी

'गबन'

दुर्बलता के कारण मनुष्य को कहाँ-से-कहाँ चला जाना पड़ता है, क्या-से-क्या हो जाना पड़ता है, इसी का घटना-चित्र इसमें अंकित है। 'प्रेमा' के पहले ही छोटा-सा एक और उपन्यास भी प्रेमचन्दजी ने उर्दू में लिखा था, जिसका नाम था 'कृष्णा'। उसी के आधार पर, नये ढंग से इस उपन्यास की कथा-वस्तु का विधान किया गया है। स्त्रियों के अत्यधिक आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों की मिथ्या वैभव-प्रदर्शन की कुप्रवृत्ति के संयोग से जिस अनर्थकारी परिणाम की सृष्टि होती है उसकी कथा बड़े मार्मिक ढंग से इसमें कही गई है।

'कर्मभूमि'

इसके उपरान्त अब 'कर्मभूमि' आई। हमारे राष्ट्र के निर्माण-कार्य में दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था के सुधार का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है और इस प्रश्न की जटिलता दूर करने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए, यही इसमें बतलाया गया है। इसका पहला आधा हिस्सा तो बहुत ही सुंदर है, किन्तु दूसरे आधे हिस्से में कथा की रुचि और उत्सुकता बढ़ानेवाली क्षमता कुछ दब सी गई है, और, ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बहुत-सी बातें 'रंगभूमि' से ही उधार ले ली गई हैं।

'गोदान'

इनका अंतिम उपन्यास 'गोदान' वस्तुतः अपना नाम सार्थक ही करता हुआ आया। इधर यह निकला उधर इसके निर्माता चल बसे! ग्रामीण उच्चारण की स्वाभाविकता के विचार से, इसका नाम पहले 'गोदान' रखा गया

था। इन पंक्तियों के लेखक ने उक्त नाम को पसंद नहीं किया। अतः, जैसा कि प्रेमचन्दजी स्नेह-वश किया करते थे, उसी तरह 'गौ' की जगह 'गो' लिख दिया गया।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रेमचंदजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास यही है। किन्तु समीक्षात्मक विचार-दृष्टि इस साधारण लोकमत को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। इसे तो 'प्रेमाश्रम' का ही परिवर्त्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप समझना चाहिए, क्योंकि इसमें कोई नई बात, कोई नवीन समस्या, कोई नूतन संदेश नहीं परिलक्षित होता। श्रम-जीवियों तथा सुख-सेवियों के जीवन-संग्राम का वर्णन इसमें भी प्रायः उसी ढर्रे पर किया गया है जो 'प्रेमाश्रम' के आकर्षण का केन्द्र है। फलतः, यह उपन्यास भी सुंदर है—बहुत सुंदर है—पर सबसे बढ़कर सुंदर नहीं। हमारे देश की मानव-जाति आज दो स्पष्ट वर्गों में बँटी हुई है। एक वर्ग के लोग भूखों मरते हैं, दूसरे वर्ग के लोग केवल खाने ही के लिए जीते हैं। सच्ची तृप्ति, सच्चा आनन्द, न पहले के पास है न दूसरे के पास—न होरी के जीवन में सुख है, न रायसाहब अमरपाल सिंह के जीवन में संतोष! 'गोदान' इन्हीं दो विपरीत वर्गों में बँटी हुई नर-नारियों के बाह्य जीवन की विभिन्न दशाओं और दिशाओं पर प्रकाश डालता है, उनके अन्तर्जीवन की अनेक रूपात्मक मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का एक मार्मिक और मनोरंजक विश्लेषण है। इसमें भी ग्राम्य तत्त्वों की प्रधानता अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य लेकर आई

है और आकर अपनी जगह पर जम गई है। प्रसंगों की विविधता भी वैसी ही अनुपम है जैसी इनके अन्य बड़े-बड़े उपन्यासों में।

इस पुस्तक का उद्देश्य

सैकड़ों कहानियों तथा इतने उपन्यासों की सृष्टि करनेवाली इनकी अद्भुत कल्पना-शक्ति अभी आगे चलकर 'कला' के किन-किन नूतन रूपों का विधान करती, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं है। और, ऐसे अनिर्णयात्मक अनुमानों की कोई आवश्यकता भी नहीं दीखती। हाँ, इसकी आवश्यकता है कि इनकी रचनाओं पर समीक्षा की एक निर्मल दृष्टि दौड़ाई जाय, स्वतंत्र बुद्धि से उन पर कुछ विचार किया जाय। यह छोटी-सी पुस्तक इसी आवश्यकता की थोड़ी-सी पूर्ति का प्रयत्न किया चाहती है। इसमें सिर्फ इनके उपन्यासों की ही चर्चा रहेगी, अगले प्रकरणों में हम केवल इनकी उपन्यास-कला के ही तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे।

वस्तु-विन्यास

प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला के प्रथम तत्त्व वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ करते ही हमारी दृष्टि इनके उपन्यासों की कथासामग्री पर जा पड़ती है। इसके लिए इनका

कथा-सामग्री

क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। चारों ओर ज्ञान और अनुभव की आँखें दौड़ाकर, अपनी कला का निर्माण करने के लिए, ये जो उपकरण एकत्र करते हैं उनके साथ हमारा पूरा परिचय रहता है। यही कारण है कि इनकी कथा-वस्तु हमारी उत्सुकता में किसी

प्रकार का नूतन आवेग नहीं ला सकती; बहुत ही शांत और सरल गति से वह हमारे अनुमान के साथ चली चलती है—कहीं किसी प्रकार के रहस्य-जाल में हमें उलझा नहीं रखती। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यास-लेखक शरच्चन्द्र और इनमें यही भेद है। शरत् बाबू के किसी उपन्यास को पढ़ते समय बीच ही में यह अनुमान कर लेना असंभव-सा है कि कहानी कब-कहां-कैसे मुड़ जायगी और उसका अंत कैसे किया जायगा। एक घटना के बाद दूसरी घटना का आगमन इस आश्चर्यपूर्ण ढंग से होता है कि पहले ही से उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की निश्चयात्मक कल्पना पाठकों के मन में उत्पन्न हो ही नहीं सकती। वस्तु-विन्यास के इसी अनुपम कौशल के कारण हमारी दृष्टि में वे औपन्यासिक जादूगर हैं। प्रेमचन्द जी में यह जादू नहीं है। वे अपने पाठकों को इस प्रकार के औत्सुक्यपूर्ण असमंजस में डालकर रख ही नहीं सकते। इनके पात्रों की जीवन-स्थिति का, उनके मनोभावों तथा कार्यों का, प्रारंभिक विश्लेषण ही हमें बता देता है कि घटना का अन्त किस प्रकार, किस रूप में, होनेवाला है। 'अब इसके आगे क्या होगा' इसका संकेत हमें इनके उपन्यासों में बराबर मिलता चलता है; घटना-चक्र के दो-ही चार चक्करों के बाद परिणाम के रूप का आभास मिल जाता है। पहले तो कथानक का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसका 'आदि' और 'मध्य' देखते ही उसके 'अन्त' का अनुमान कर लेने में हमें किसी प्रकार का असमंजस नहीं होता; और, दूसरे, जब इन्हें किसी घटना विशेष का निर्माण

करना होता है तो उनके पहले ही ये उस घटना से सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों के हृदय में उसकी संभावना की आशंका उत्पन्न कर देते हैं। यह संभावना की आशंका कभी तो पात्रों के अन्तस्तल की उद्विग्नता में पैठकर बोलती है, कभी उनके स्वप्न बनकर। ('कायाकल्प' के १७१ वें पृष्ठ पर) जब हम देखते हैं कि राजा विशाल सिंह उत्सव का आयोजन कर रहे हैं किन्तु "किसी अनिष्ट की आशंका उन्हें हरदम उद्विग्न रखती" है तो हमें यह अनुमान करते देर नहीं लगती कि अब कोई-न-कोई दुर्घटना होने ही वाली है। हमारा अनुमान सच निकलता है; (१७३ वें पृष्ठ पर पहुँचते ही) " सहसा मजदूरों के बाड़े से रोने-चिल्लाने की आवाजें" आने लगती हैं—अनिष्ट का सूत्रपात हो जाता है! ('निर्मला' नामक उपन्यास के ७ वें ही पृष्ठ में) अपने विवाह का गान सुनते ही जब 'निर्मला' के " हृदय में एक विचित्र शंका" समा जाती है, उसके "रोम-रोम में एक अज्ञात भय का संचार" हो जाता है कि " न जाने क्या होगा!" उसी समय हमें उसकी "चिन्तायें और भीरु कल्पनायें" यह बता देती हैं कि बालिका का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। फिर, जब वह सपने में देखती है कि जिस नाव पर चढ़ कर वह नदी पार कर रही है वह "नीचे से खिसक जाती है और उसके पैर उखड़ जाते हैं" ('निर्मला'—पृ० १२) तब तो उसके भावी जीवन का बोलता हुआ चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। जिस स्थिति में पहुँचकर ये इस प्रकार के संकेतों से पाठकों का अनुमान बढ़ाते हैं वह आनेवाली घटनाओं की परिज्ञापिका

प्रकार का नूतन आवेग नहीं ला सकती; बहुत ही मंद और सरल गति से वह हमारे अनुमान के साथ साथ चलती है—कभी किसी प्रकार के रहस्य-जाल में हमें उलझा नहीं रखती। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यास-लेखक शरच्चन्द्र और इनमें यही भेद है। शरत् बाबू के किसी उपन्यास को पढ़ते समय बीच ही में यह अनुमान कर लेना असंभव-सा है कि कहानी कब-कहां-कैसे मुड़ जायगी और उसका अंत कैसे किया जायगा। एक घटना के बाद दूसरी घटना का आगमन इस आश्चर्यपूर्ण ढंग से होता है कि पहले ही से उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की निश्चयात्मक कल्पना पाठकों के मन में उत्पन्न हो ही नहीं सकती। वस्तु-विन्यास के इसी अनुपम कौशल के कारण हमारी दृष्टि में वे औपन्यासिक जादूगर हैं। प्रेमचन्द जी में यह जादू नहीं है। ये अपने पाठकों को इस प्रकार के औत्सुक्यपूर्ण असमंजस में डालकर रख ही नहीं सकते। इनके पात्रों की जीवन-स्थिति का, उनके मनोभावों तथा कार्यों का, प्रारंभिक विश्लेषण ही हमें बता देता है कि घटना का अन्त किस प्रकार, किस रूप में, होनेवाला है। 'अब इसके आगे क्या होगा' इसका संकेत हमें इनके उपन्यासों में बराबर मिलता चलता है; घटना-चक्र के दो-ही चार चक्करों के बाद परिणाम के रूप का आभास मिल जाता है। पहले तो कथानक का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसका 'आदि' और 'मध्य' देखते ही उसके 'अन्त' का अनुमान कर लेने में हमें किसी प्रकार का असमंजस नहीं होता; और, दूसरे, जब इन्हें किसी घटना विशेष का निर्माण

करना होता है तो उसके पहले ही ये उस घटना से सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों के हृदय में उसकी संभावना की आशंका उत्पन्न कर देते हैं। यह संभावना की आशंका कभी तो पात्रों के अन्तस्तल की उद्विग्नता में पैठकर बोलती है, कभी उनके स्वप्न बनकर। ('कायाकल्प' के १७१ वें पृष्ठ पर) जब हम देखते हैं कि राजा विशाल सिंह उत्सव का आयोजन कर रहे हैं किन्तु "किसी अनिष्ट की आशंका उन्हें हरदम उद्विग्न रखती" है तो हमें यह अनुमान करते देर नहीं लगती कि अब कोई-न-कोई दुर्घटना होने ही वाली है। हमारा अनुमान सच निकलता है; (१७३ वें पृष्ठ पर पहुँचते ही) "सहसा मजदूरों के बाड़े से रोने-चिल्लाने की आवाजें" आने लगती हैं—अनिष्ट का सूत्रपात हो जाता है! ('निर्मला' नामक उपन्यास के ७ वें ही पृष्ठ में) अपने विवाह की बात सुनते ही जब 'निर्मला' के "हृदय में एक विचित्र शंका" समा जाती है, उसके "रोम-रोम में एक अज्ञात भय का संचार" हो जाता है कि "न जाने क्या होगा!" उसी समय हमें उसकी "चिन्तायें और भीरु कल्पनायें" यह बता देती हैं कि बालिका का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। फिर, जब वह सपने में देखती है कि जिस नाव पर चढ़ कर वह नदी पार कर रही है वह "नीचे से खिसक जाती है और उसके पैर उखड़ जाते हैं" ('निर्मला'—पृ० १२) तब तो उसके भावी जीवन का बोलता हुआ चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। जिस स्थिति में पहुँचकर ये इस प्रकार के संकेतों से पाठकों का अनुमान बढ़ाते हैं वह आनेवाली घटनाओं की परिज्ञापिका

होती है। 'मनोरमा' के मुख से यह सुनकर कि "अगर मैं जगदीशपुर की रानी होती तो आपको बिना मांगे ही बहुत-सा धन देती"—और 'चक्रधर' के मुँह से यह कि "अच्छा, कभी याद दिलाऊँगा"—हमारे मन में सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'आगे चलकर मनोरमा सचमुच जगदीशपुर की रानी होगी क्या?' और वस्तुतः होता भी वही है ('कायाकल्प'—पृ० ३३)। गाय अभी द्वार तक पहुँच भी नहीं पाई थी कि होरी के "मन की बड़ी भारी लालसा पूरी हो गई" किन्तु "धनिया अपने हार्दिक उल्लास को दबाये रखना चाहती थी।" क्यों? इसलिए कि 'इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई नई बाधा न लाये, यह शंका उसके निराश हृदय में कंपन डाल रही थी।" और इसीलिए "मानो वह भगवान को भी धोखा देना चाहती थी। भगवान को भी दिखाना चाहती थी कि इस गाय के आने से उसे इतना आनन्द नहीं हुआ कि ईर्ष्यालु भगवान सुख का पलरा ऊँचा करने के लिए कोई नई विपत्ति भेज दें ('गोदान'—पृ० ५४)।" होरी की इस लालसा-पूर्ति में जिस अपूर्व आनन्द की ज्योति जगमगा रही थी उसे वह छिपा कर नहीं रख सकता था, लोक-चक्षु के मार्ग पर बिखेर देना चाहता था। अतएव, स्वभावतः, हर्षातिरेक के कारण, वह "आपे में नहीं था।" वह अपनी उस "सजीव सम्पत्ति" से "अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था" और सोचता था कि गाय "आँगन में बँधी तो कौन देखेगा?" लेकिन "धनिया इसके विपरीत सशंक थी। वह गाय

को सात परदों के अन्दर छिपा कर रखना चाहती थी ('गोदान'—पृ० ५५)।" एक ओर होरी के हुलास की यह झूमती हुई चाँदनी और दूसरी ओर धनिया की आशंका का यह काँपता हुआ अन्धकार—दोनों ही भावी संकट के संकेतों से परिपूर्ण हैं। सुख और आनन्द की अमरता के ज्ञान-शून्य विश्वास में भी दुख और शोक की अवस्थिति है—ठीक उसी तरह, जिस तरह उनकी अस्थिरता की भय-भरी आशंका में आपत्ति और विपत्ति की। थोड़ी ही दूर आगे चलकर स्वयं होरी को पता चल जाता है कि उसका विश्वास झूठा था, धनिया की आशंका सच्ची थी। पर कब? जब "चिराग लेकर देखा, सुन्दरिया के मुँह से फिचकुर निकल रहा था, आँखें पथरा गई थीं, पेट फूल गया था और चारों पाँव फैल गये थे ('गोदान'—पृ० १६५)" गाय थोड़े ही दिनों में मर जाती है और "ईर्ष्यालु भगवान" धनिया के "सुख का पलरा ऊँचा करने के लिए नई विपत्ति" भेज कर ही दम लेते हैं। पाठकों को इस अनिष्ट के आगमन का संकेत इसके पहले ही मिल जाता है—होरी के हर्षातिरेक और धनिया के आशंका-धिक्य से ही नहीं, दातादीन की उन "रहस्य भरे स्वर में" बोली गई बातों से भी कि गाय को "बाहर न बाँधना, इतना कहे देते हैं ('गोदान'—पृ० ५७)।"

ये केवल पारिवारिक जीवन का चित्र या किसी सम्प्रदाय विशेष की दुरवस्थाओं का वर्णन उपस्थित करके ही अपना काम पूरा नहीं कर लेते; अपने विस्तृत समाज और विशाल राष्ट्र की व्यापक एवं गंभीर

समस्याओं पर पूरा-पूरा प्रकाश डालते हुए, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विभक्त सांसारिक जीवन की विशद व्याख्या करना भी इनका उद्देश्य रहता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये जीवन-व्यापार के प्रायः सभी क्षेत्रों से कथा-सामग्री का संचय किया करते हैं। किसान, जमींदार, राजा, रंक, साधु, चोर, पुलिस, हाकिम, वकील, विद्यार्थी, अध्यापक, राजनीतिज्ञ, धर्मनीतिज्ञ, सुधारक, प्रचारक, देश-सेवक, पंडे, गुंडे आदि सभी प्रकार के लोगों की जीवन-घटना के रंग-बिरंगे चित्र खींचकर ये हमारे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन की भरी-पूरी सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि इनकी इस सामग्री से हमें अपने जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, सुदृढ़ और शिक्षामय बनाने की सुविधाएं प्राप्त हों। इनके उपन्यासों की यह वस्तु-विविधता सचमुच बेजोड़ है।

ये उच्चकोटि के व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। यही कारण है कि अपने उपन्यासों की कथा-सामग्री एकत्र करते समय ये वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करते। किन्तु, साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि इनकी वास्तविकता किसी प्रकार की नग्न अश्लीलता का पर्याय न बन जाय। मानव-जगत की मलिन से मलिन वास्तविकता की ओर संकेत करते समय भी ये श्लीलता और शिष्टता के उपकरणों से ही काम लेते हैं। 'सेवासदन' वाली 'सुमन' को वेश्यालय में बैठाकर भी ये उसके अश्लील एवं अवाञ्छनीय व्यापारों का वर्णन नहीं करते। 'कर्मभूमि' की 'मुन्नी' के सतीत्व-अपहरण की बात ये उसकी एक

'चीत्कार' से ही हमें बता देते हैं। इनके उपन्यासों में जहाँ कहीं भी किसी प्रकार का दुखद और लज्जाजनक प्रसंग आया है वहां इन्होंने अपने कलात्मक संयम से, अपनी स्वाभाविक सुरुचि से, पूरा काम लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने 'स्वर्ग' भी 'बनाये' हैं और 'नरक' भी—अच्छी घटनाओं का भी वर्णन किया है और बुरी घटनाओं का भी। किन्तु इनका 'नरक' देखकर हृदय में कुत्सित लालसाओं का, अवाञ्छनीय इच्छाओं का, उदय नहीं होता। हां, 'स्वर्ग' देखकर उसे अपनाने की अभिलाषा अवश्य होती है। 'सेवा-सदन' में जिस 'दालमंडी' का चित्र अङ्कित किया गया है वहां पहुँच कर भी 'सदनसिंह' पाप का शिकार नहीं, प्रेम का पुजारी ही बनता है और उसकी वही प्रेम-भावना, आगे चलकर, उसके द्वारा 'शान्ता' का उद्धार कराने में समर्थ होती है। 'कायाकल्प' वाली 'लौंगी' ठाकुर हरिसेवक सिंह की रखेली है, किन्तु, जब कभी वह हमारे सामने आती है, हम उसे 'मनोरमा' की मां होने के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं सकते। उसके शील-स्वभाव की सुन्दरता के आगे उस उपन्यास का और कोई पात्र ठहरता ही नहीं। सारांश यह कि अपावन प्रसंगों का संकेत करते समय भी प्रेमचन्दजी पावन भावनाओं की अभिव्यक्ति करते चलते हैं। पाप की थोड़ी-सी श्यामल छाया दिखलाकर ये तुरन्त ही उसे पुण्य के उज्ज्वल प्रकाश से भर देते हैं। इसी कारण इनकी रचनाओं में जो कुछ 'असुन्दर' है वह सदैव आकर्षण-शून्य, प्रभाव-हीन, अशक्त और निष्क्रिय बनकर पड़ा रहता है और जो कुछ 'सुन्दर'

है वह हमारी आशाओं तथा अभिलाषाओं के आवेग को परिष्कृत कर हमें अपने पास बुला लेता है। 'ज्ञानशंकर' ज्योंही 'गायत्री' को उठाकर छाती से लगा लेता है त्योंही अकस्मात् कमरे का द्वार धीरे-से खुलता है और 'विद्या' उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ४६८)। हम उन दोनों की कुचेष्टा से प्रभावित न होकर केवल 'विद्या' के ही प्रभाव में आ जाते हैं—कमरे का ही नहीं, पाठकों के हृदय का भी समस्त वातावरण उसी की सतीत्व की उज्ज्वलता से जगमगा उठता है। 'असुन्दर' का आश्रय ये वहीं तक ग्रहण करते हैं जहाँ तक वह इनके 'सुन्दर' को प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

अपनी इसी मंगलमयी कलात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ये कथा-सामग्री का संचय करते हैं, और, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इस काम के लिए इनकी आँखें चारों ओर दौड़ती रहती हैं। 'सेवा-सदन' की कथा-सामग्री समाज की रूढ़िग्रस्त दुर्बलताओं तथा दुरवस्थाओं से सम्बन्ध रखती है। दहेज की कुप्रथा के कारण किन-किन दारुण अनर्थों की सृष्टि होती है, सुधारकों के पारस्परिक वैमनस्य और चारित्रिक दौर्बल्य से समाज का कितना बड़ा अमंगल होता है, समाज की आश्रयहीन एवं पतित बहनों के जीवन-सुधार की योजना किस प्रकार काम में लाई जानी चाहिए, परम्परागत पापों को पराजित करने के लिए किस प्रकार के प्रेम और त्याग की आवश्यकता रहती है आदि बातों का ही उल्लेख इस उपन्यास में किया गया है।

'प्रेमाश्रम' में कथा-सामग्री का क्षेत्र कुछ बढ़ गया है। इसमें किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध का तो विशद वर्णन है ही, इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की बातें आ गई हैं जो मानव जीवन के भिन्न-भिन्न व्यापारों से सम्बन्ध रखती हैं। प्रेम, घृणा, स्वार्थ, त्याग, सुख, दुख आदि के भाव अभिव्यक्त करने वाली घटनाओं का सन्निवेश करके इसमें यह भी दिखलाया गया है कि इस प्रकार की घटनाओं से जीवन में कैसे-कैसे परिवर्त्तन उपस्थित हुआ करते हैं। 'रंगभूमि' का क्षेत्र इससे भी बढ़ गया है। इसमें हिन्दू-मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई भी आ गये हैं। कथा-सामग्री में राजनीतिक आन्दोलन के उपकरण भी सम्मिलित हो गये हैं। इसमें किसान भी हैं, जमींदार भी हैं; भिखीरी भी हैं,भगवान भी;पंडे भी हैं, गुंडे भी; स्वदेश-सेवक भी हैं और स्वार्थ-साधक भी। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में स्त्रियों की ओर से उनकी अपनी कर्त्तव्य-चेष्टा का खुला हुआ सौंदर्य नहीं दिखलाया गया है, पर, 'रंगभूमि' में जाह्नवी,' इन्दु और सोफिया इस ओज के साथ आ उतरी हैं कि 'सूर' और 'विनय' की वीरता भी उसके आगे अपने आपको बढ़कर समझते झिझकती-सी दीख पड़ती है। इसमें नाना प्रकार के लोग आये हैं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली नाना प्रकार की घटनाएँ घटित हुई हैं। और, इन सभी प्रकार की घटनाओं का सूत्र 'सूरदास' की जीवन-घटना के साथ बँधा हुआ है। इसलिए, कथा-वस्तु का मुख्य रूप हो गया है 'सत्याग्रह-संग्राम' और उसमें निष्काम भाव से जूझनेवाले कर्मवीरों की

आध्यात्मिक विजय। 'कर्मभूमि' की कथा-सामग्री भी कुछ इसी प्रकार की है। अन्तर इतना ही है कि अपने इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने अछूतोद्धार-द्वारा राष्ट्र-निर्माण के प्रश्न पर मुख्य रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा की है और यह दिखलाया है कि जब तक इस उपेक्षित मानव-समुदाय के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक सुधार की ओर ध्यान न दिया जायगा तब तक हम अपने राष्ट्र की वास्तविक उन्नति कर नहीं सकते। सामयिक घटना-चित्रों से उपन्यास भरा हुआ है। 'कायाकल्प' में साम्प्रदायिक झगड़े का—हिन्दू मुसलमान की लड़ाई का—भी वर्णन है और किसान-आन्दोलन के रूप में थोड़े से राज-नीतिक झमेले भी खड़े कर दिये गये हैं। किन्तु, इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ही प्रधानता दीख पड़ती है। रानी 'देवप्रिया' और उसके 'प्रियतम' के बार-बार जन्म-ग्रहण करने और मर जाने की कहानी विलक्षण है। इसी मुख्य घटना के साथ-साथ और-और प्रकार की घटनाएँ भी लिपटी हुई हैं। 'गबन' में पुलिस के हथकंडों का जीता-जागता चित्र खींचा गया है। 'रमानाथ' को पकड़कर पुलिस के लोग उससे कैसे-कैसे अवाञ्छनीय कार्य कराया चाहते हैं, इसका अत्यन्त रोमांचकारी वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। किन्तु यही कहानी का आधार नहीं है। मुख्य कथा-सामग्री तो 'रमानाथ' और उसकी धर्मपत्नी 'जालपा' की जीवन-घटना से सम्बन्ध रखती है। एक का मिथ्या-वैभव-प्रदर्शन और दूसरे का अत्यधिक आभूषण-प्रेम मिलकर जिस अनर्थ की सृष्टि करता है उसी की विशद व्याख्या करना ही

इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। 'वरदान' की कथा-सामग्री एक विधवा और उसके एकलौते बेटे की जीवन-घटना से ली गई है। 'सुवामा' एक देशभक्त पुत्र की कामना करती है और देवी के आशीर्वाद से 'प्रताप' के रूप में उसे पाती भी है। 'विरजन' के साथ 'प्रताप' का प्रेम होता है। पर, स्वदेश-सेवा के लिए, अन्त में 'विरजन' को छोड़कर वह वैरागी बन जाता है। इसी छोटी-सी घटना को लेकर कहानी चली है। पुरुष की कठोर कर्त्तव्य-साधना और नारी-हृदय की उद्दीप्त प्रणय-वेदना के मार्मिक एवं मधुर द्वन्द्वों का इसमें बड़ा ही हृदयग्राही विश्लेषण किया गया है। 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' में केवल शुद्ध सामाजिक प्रश्नों पर ही विचार किया गया है। एक में वृद्ध-विधुर-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाये गये हैं, दूसरे में विधवाओं के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने का आदर्श निरूपित किया गया है। दोनों ही उपन्यास हमारे समाज के लिए दर्पण का काम करते हैं। 'गोदान' में सम्पन्न और सुशिक्षित नागरिक जीवन का तथा विपन्न और अशिक्षित ग्राम्य जीवन का तुलनात्मक विवेचन किया गया है, दो अलग-अलग बसी हुई दुनिया की रंगीन तस्वीरें खींची गई हैं। इस में भी जमींदार हैं, पूंजीपति हैं, बुद्धिजीवी हैं, श्रमजीवी हैं, सब हैं। सब के जीवन प्रवाह में गति है, उद्वेग है, स्वच्छन्दता भी है और बाधा भी। किन्तु स्थिरता शायद किसी में नहीं है। महलों में सोनेवाले भी भीतर से वैसे ही हैं जैसे झोपड़ियों में रोनेवाले! मानव-जीवन की असफलताएँ और निराशाएं इसमें चरम सीमा तक पहुँची हुई दिखाई गई हैं।

सारांश यह कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की कथा-सामग्री हमारी पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी प्रकार की घटनाओं और परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती है और हमारे जीवन-व्यापार के प्रत्येक अंग को स्पर्श करती चलती है।

किन्तु, कथा-सामग्री के संचय मात्र से ही उपन्यास-कला के आग्रह की परितुष्टि नहीं हो जाती। वह यह भी चाहती है कि कलाकार अपनी संचित सामग्री का अच्छे ढंग से उपयोग करे।

कथा-सामग्री का उपयोग

अच्छे ढंग से उपयोग करने का तात्पर्य यह कि वह उन्हीं बातों को अपने उपन्यास का मुख्य आधार बनावे जो मनुष्य मात्र के जीवन-संग्राम से सम्बन्ध रखती हैं। अन्तर्जगत की भिन्न-भिन्न भावनाओं तथा बाह्य जगत की अनेक रूपात्मक परिस्थितियों का विश्लेषण करते समय यही देखना चाहिए कि जो बातें साधारण और तुच्छ हैं उनपर विशेष ध्यान न देकर उन्हीं बातों पर अधिक जोर दिया जाय जो हमारे ऊपर मंगलकारी मनो-वैज्ञानिक प्रभाव डालने की क्षमता रखती हों और जिनको ग्रहण करने के लिए हमारा हृदय सदैव तत्पर रहता हो। हमारा हृदय उन्हीं बातों को ग्रहण कर प्रभावान्वित होता है जो मनुष्य मात्र की सामान्य अवस्थाओं से—उसके भीतरी और बाहरी सुख-दुख की घटनाओं से—सम्बन्ध रखने वाली होती हैं।

प्रेमचन्दजी 'कला' के इस आग्रह का मर्म समझते हैं और उसको परितुष्ट करने के लिए अपनी कथा-सामग्री के उपयोग में पर्याप्त

सतर्कता से काम लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की व्याख्या करते समय वे उसके मूल भावों की उपेक्षा नहीं करते, इसमें भी सन्देह नहीं कि इनकी वस्तु-विन्यास की प्रणाली में उच्च कोटि के आनन्द का उद्रेक करने की शक्ति है और मनोरंजन के साथ-साथ वह हमारे उद्गत भावों का परिष्कार भी करती चलती है, किन्तु, यह भी झूठ नहीं है कि कहीं-कहीं वे साधारण और तुच्छ बातों के वर्णन में भी हमें व्यर्थ ही उलझा रखते हैं, कहाँ-कब क्या कहना चाहिए इसका तो वे ध्यान रखते हैं; पर, कहाँ-कब-क्या नहीं कहना चाहिए इस बात का ध्यान इन्हें प्रायः नहीं रहता। उपन्यास को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली आवश्यक बातों को तो वे कभी नहीं छोड़ते, किन्तु कहीं-कहीं अनावश्यक बातों को भी बहुत दूर तक पकड़े लिये चलते हैं। जैसे ('सेवासदन'—पृ० १३४ में) वेश्यालय छोड़ते समय 'सुमन' की नटखट क्रीड़ा का वर्णन, उपन्यास-कला की दृष्टि से, अनावश्यक ही नहीं, अवसर के नाते, अस्वाभाविक-सा भी प्रतीत होता है। जिस समय उसे गम्भीरता के अगाध पारावार में निमग्न रहना चाहिए था उसी समय उसने 'अबुलवफा' की दाढ़ी में आग लगवाना, तीन टाँगवाली कुरसी पर बैठाकर 'सेठ चिम्मनलाल' की कमर तोड़वाना और 'पण्डित दीनानाथ' को वार्निश से स्नान करवाना, अच्छा नहीं मालुम पड़ता। 'प्रेमाश्रम' (पृ० ५६५) में 'पद्मशंकर' और 'तेजशंकर' की मूर्खतापूर्ण आत्म-बलिदान वाली घटना भी व्यर्थ-सी है। निस्सन्देह, उन दोनों बालकों की अवतारणा करके, तथा, वैभव और अमरत्व प्राप्त करने की चेष्टा में, मिथ्या

विश्वास-द्वारा उनका अन्त कराके, कलाकार ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि उन दोनों बालकों की जीवन-घटना देखकर 'माया-शंकर' के हृदय में अर्थ-वैराग्य की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ, ऐश्वर्य की संहारिणी-शक्ति का बोध हुआ, और इसी से धन-धरती की माया से मुक्त होकर उसने लोक-सेवा का मार्ग ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में 'प्रेमशंकर' अपने भाई 'ज्ञानशंकर' से कहते हैं—"तेजू और पद्मू का बलिदान 'माया' के गोद लिये जाने ही के कारण हुआ। 'माया को अचानक इस रूप में देखकर उनको वृद्धि प्राप्त करने की प्रेरणा हुई ('प्रेमाश्रम'—पृ० ६२०)।" स्वयं 'मायाशंकर' भी अपनी चाची 'श्रद्धा' से रोकर कहता है "तेजू और पद्मू के प्राण मैंने लिये और अब बाबा की भी कुछ मदद नहीं कर सकता। ऐसे जीने पर धिक्कार है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ६२८)." यह सब सही। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उन दो बालकों के बिना उपन्यास के घटना-सौन्दर्य में कौन-सी कमी पड़ जाती। क्या 'मायाशंकर' स्वभाव ही से अर्थ-विरागी नहीं था? जिसके रंग-ढंग देखकर 'गायत्री' कहती है "मेरी समझ में तो यह पूर्व जन्म में कोई संन्यासी रहे होंगे (प्रेमाश्रम—पृ० ४१५)" उसी की वैराग्य-प्रवृत्ति प्रकट करने के लिए उन दो बालकों की—और विशेषकर उनके आत्म-हनन की—तो कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, होनी ही नहीं चाहिए। 'प्रेमाश्रम' में 'इर्फ़ाद हुसेन' भी किसी महत्त्व की सृष्टि या रक्षा करनेवाला पात्र नहीं प्रतीत होता। उसके 'यतीमखाने के स्वांग'

वर्णन में दर्जनों ही उपन्यास के कई पृष्ठ काले किये गये हैं। उनके चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाली कथा-सामग्री न तो किसी प्रकार का आकर्षण रखती है, न किसी कलात्मक अभाव की पूर्ति करनेवाली है। इसी तरह, 'गोदान' के डाक्टर मेहता से "वीमेन लीग" में जो एक लम्बा-सा भाषण दिलवाया गया है ('गोदान'—पृ० २४३-२६२) वह भी उपन्यास-कला के किसी स्वाभाविक सौन्दर्य से सम्बन्ध नहीं रखता और 'बिजली'-संपादक (पं० ओंकारनाथ) के शब्दों में हमें "कोई नई बात नहीं" बताता।

कथा-सामग्री का उपयोग करते समय कहीं-कहीं जो ये कलात्मक संयम से काम लेने से चूक जाते हैं इसका प्रधान कारण है इनकी अद्भुत वर्णना-शक्ति। कल्पना के विस्तृत प्राङ्गण में पहुँचते ही इनकी यह शक्ति बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है। अपनी इस उत्तेजना को ये दबा नहीं सकते—इसे दबा रखनेवाली स्थायी क्षमता का इनमें अभाव-सा है। यही कारण है कि इनके उपन्यास प्रायः बड़े-बड़े होते हैं और जगह-जगह पर कथा-सामग्री की उपयोग-प्रणाली में इनसे भूलें भी हो जाया करती हैं। शरत् बाबू वाली 'थोड़े ही में बहुत' कह देने की कला ये जानते ही नहीं—जानते भी हों तो उससे पूरा काम नहीं लेते। इसीसे कहीं-कहीं वर्णन अतिरंजित और अरुचिकर हो जाता है। 'कर्मभूमि' वाला 'अमर' जब महंत 'आशाराम गिरि' के मंदिर में प्रवेश करता है तो देखता क्या है कि "× × × बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य-सामग्री भरी हुई थी। ऐसा मालूम होता था, अनाज,

शाक-भाजी, मेवे, फल, मिठाई की मंडियाँ है। एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था। इस मौसम में परवल कितने मँहगे होते हैं; पर यहां वह भूसे की तरह भरा हुआ था। × × × इन मौसम में यहाँ बीसों झावे अंगूर के भरे थे।" 'अमर' दूसरी तरफ गया तो देखा "एक लम्बी कतार दरजियों की थी × × ×, एक कतार सोनारों की थी × × ×, एक पूरा कमरा इत्र और तेल और अगर-बत्तियों से भरा हुआ था।" अच्छा, अब वह पशुशाला की ओर मुड़ता है तो क्या देखता है कि "कोई पचीस-तीस हाथी आँगन में बँधे थे, कोई इतना बड़ा कि पूरा पहाड़, कोई इतना छोटा, जैसे भैंस। × × × पाँच सौ घोड़ों से कम न थे, हरेक जाति के, हरेक देश के। × × × चार, पाँच सौ गायें—भैंसें थीं, क्योंकि ठाकुर जी के स्नान के लिए प्रतिदिन तीन बार पाँच-पाँच मन दूध की आवश्यकता पड़ती थी, भंडार के लिए अलग—('कर्मभूमि'—पृ० ४०४ ४०५, ४०६)।"

अपनी वर्णना-शक्ति के इस आवेग में पड़कर कभी-कभी असावधान भी हो जाते हैं। जैसे, पहले तो ये हमें बताते हैं "सुमन उस समय भोली बाई के कोठे पर बैठी हुई बातें कर रही ('सेवासदन'—पृ० २६)।" और उसके बाद कहते हैं कि "भोली बाई का कमरा देखकर सुमन की आँखें खुल गईं। एक बार पहले भी आई थी, पर नीचे के आँगन ही से लौट गई ('सेवासदन'—पृ० ५४)।" 'कर्मभूमि' वाली 'बुढ़िया पठानिन'

तो अमरकान्त से कहती है "गायघाट पर रहती हूँ बेटा ! × × × सब हैं भैया, बेटे हैं, पोते हैं, बहुएँ हैं, पोतों की बहुएँ हैं। नहीं लेते मेरी सुध, न सही। हैं तो अपने। मर जाऊँगी तो मिट्टी तो ठिकाने लगा देंगे ('कर्मभूमि'—पृ० ४७)।" लेकिन थोड़ी ही देर बाद उसके मकान का पता लगता है जाकर 'गोबरधन-सराय' में और वह 'अमर' से कहती है "बेटा, अब तो दो ही आदमी हैं, नहीं, इसी घर में एक पूरा कुनबा रहता था। मेरे दो बेटे, दो बहुएँ, उनके दो बच्चे, सब इसी घर में रहते थे। इसी में सबों के शादी-ब्याह हुए और इसी में सब मर भी गये। × × × अब मैं हूँ और मेरी यह पोती (सकीना) है। और सबको अल्लाह ने बुला लिया ('कर्मभूमि' —पृ० ५१)।"

इसी तरह की एक असावधानी और देखिये। 'मुन्नी' जब रिहाई पाकर चली तो उसके पास कोई सामान नहीं था। मानसिक उद्वेग और सब प्रकार के अभावों से भरी हुई दरिद्रता ही लेकर वह काशी से चलती है। किन्तु, जब वह लखनऊ के स्टेशन पर पहुँचती है, और फिर से काशी लौट आने की बात सोचने लगती है, तो कुली उससे पूछता है "असबाब जनाने डब्बे में रख दूँ कि मरदाने में ?" मुन्नी के मुँह से "मैं इस गाड़ी से न जाऊँगी" सुनकर वह फिर पूछता है "तो असबाब बाहर ले चलूँ, या मुसाफिरखाने में ?" 'मुन्नी' कहती है "मुसाफिर-खाने में। (कर्मभूमि, पृ० २४०)।" प्रश्न यह उठता है कि उस बेचारी के पास उतना सामान आ कहाँ से

कर सका। × × × जिसे अपने घर सूखी रोटियाँ भी मयस्सर नहीं वह भी बरात में जाकर 'नानाशाह' बन बैठता है। तेल खुशबूदार नहीं, साबुन टके सेर, कहार बात नहीं सुनते, लालटेनें धुआँ देती हैं, कुरसियों में खटमल हैं, चारपाइयाँ ढीली हैं! जनवासे की जगह हवादार नहीं। ऐसी-ऐसी हजारों शिकायतें होती रहती हैं। अगर यह मौका न मिला तो और ऐब निकाल लिए जायँगे—भई, यह तेल तो रंडियों के लगाने लायक है, हमें तो सादा तेल चाहिए। जनाब, यह साबुन नहीं भेजा है, अपनी अमीरी की शान दिखलाई है। ये कहार नहीं, यमदूत हैं, जब देखिये सिर पर सवार। लालटेनें ऐसी भेजी हैं कि आँखें चमकने लगती हैं, अगर दस-पाँच दिन ऐसी रोशनी में बैठना पड़े तो आँखें फूट जायँ! जनवासा क्या है, अभागे का भाग्य है, जिसपर चारों तरफ़ से झोंके आते रहते हैं × × × ('निर्मला-पृ० १४)।" बरातियों की मनोवृत्ति का कितना बढ़िया विश्लेषण है!

ग्रामीण-जीवन का तो शायद ही कोई ऐसा चित्र हो जिस पर इनकी दृष्टि न पड़ी हो और जिसे इन्होंने अपनी रचनाओं में अंकित न किया हो। ग्राम्य-तत्त्वों की प्रधानता ही इनके उपन्यासों की सबसे बड़ी शोभा और विशेषता है। इस बात में ये अङ्गरेजी के प्रसिद्ध औपन्यासिक टॉमस हार्डी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। गाँव के गरीब किसानों और मजदूरों की प्रकृति तथा परिस्थिति का इन्होंने पूर्ण पर्य्यवेक्षण और अध्ययन किया है, उनके वातावरण के एक-एक तत्त्व को इन्होंने हृदयंगम कर लिया है। यही कारण है कि उनके

प्रकट कर रहे हैं ('प्रेमाश्रम'—पृ० १)।"

"बजरंगी खाट पर बैठा नारियल पी रहा था। उसकी स्त्री जमुनी खाना पकाती थी। आँगन में तीन भैंसें और चार-पाँच गायें चरनी पर बँधी हुई चारा खा रही थीं ('रंगभूमि'—पृ० १८)।"

"शाम हो गई है, गायें-भैंसें हार से लौटीं। जग्गो ने उन्हें खूँटे से बाँधा और थोड़ा-थोड़ा भूसा लाकर उनके सामने डाल दिया। इतने में देवी और गोपी भी बैलगाड़ी पर डाँठ लादे हुए आ पहुँचे। दया-नाथ ने बरगद के नीचे जमीन साफ कर रक्खी है। वहीं डाँठें उतारी गईं ('ग़बन'—पृ० ४३०)।"

अपने सांसारिक जीवन-क्षेत्र में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, प्रायः सब-के-सब, इनके उपन्यासों में अङ्कित पाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे इनके दृष्टि-स्पर्श से कोई वस्तु अछूती बची ही नहीं—बच ही नहीं सकती। पर्य्यवेक्षण-शक्ति की सम्पन्नता ही इनकी सफलता की जननी है।

अपने इस अद्भुत दृष्टि-विस्तार के कारण, ये जीवन-घटना के

हस्यों और स्थिति की विशेषताओं का बहुत ही गहरा ज्ञान रखते हैं।
वर्णन की सम्पूर्णता इसीसे इनके उपन्यासों में वर्णन की सम्पूर्णता
और सजीवता और सजीवता का अभाव नहीं रहता। रंक की
झोपड़ी में भी इनकी दृष्टि का प्रवेश है और राजा के महलों में भी।
देखिये, सूरदास की झोपड़ी में "न खाट न बिस्तर, न बरतन न
भाँडे। एक कोने में एक मिट्टी का घड़ा था, जिसकी आयु का कुछ
अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास
हाँड़ी थी। चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ एक तावा, और एक
छोटी-सी कठौत, और एक लोटा।" अच्छा, अब उसकी खाद्य-
व्यवस्था देखिये, भीख में "जितना नाज पाया था, वह ज्यों-का-त्यों
हाँड़ी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने,
थोड़ी-सी जुआर और मुट्ठी भर चावल। × × × हाँड़ी को चूल्हे
पर चढ़ाकर वह घर से निकला, द्वार पर टट्टी लगाई, और सड़क पर
जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा-सा आटा और एक पैसे का
गुड़ लाया। आटे को कठौती में गूँधा और तब आधा घंटे तक चूल्हे
के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। हाँड़ी में कई बार
उबाल आये, कई बार आग बुझी। चूल्हा फूँकते-फूँकते उसकी
आँखों से पानी बहने लगता था ('रंगभूमि'—पृ० १६, १७)।"
दारिद्र्य-पूर्ण जीवन का कैसा सजीव चित्र है! किसानों की दुर्दशा का
भी एक दृश्य देख लीजिए:—"द्वार पर मानों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध
उड़ रही है; मगर उनकी नाक में न गन्ध है, न आँखों में ज्योति।

गरेशाम ही द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं, मगर किसी को गम नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी—चोकर के बगैर नाद में मुँह नहीं डालते; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिये। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिये बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिये लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज्जत को भी भूल जाता है ('गोदान'—पृ० ५७३)।"

म्युनिसिपल-बोर्ड की बैठकों के विवरण, 'प्रेमाश्रम' में 'सनातन-धर्म-मंडल' के वार्षिकोत्सव तथा 'मायाशंकर' के तिलकोत्सव के लम्बे-लम्बे कार्य-विवरण, किसी भी कलात्मक अभिरुचि या तत्त्व से सम्बन्ध नहीं रखते। उन्हें पढ़ते-पढ़ते जी ऊब उठता है। औपन्यासिक विवरण समाचार-पत्र के विवरणों से सर्वथा भिन्न होने चाहिए, यह बात, वर्णन के वेग में पड़कर, प्रेमचन्दजी कभी-कभी भूल जाते हैं।

इसके साथ ही, इनके उपन्यासों में घटनाओं की पुनरावृत्ति भी होती है। 'सेवासदन' में 'सुमन' गंगा में डूबने जाती है, और फिर लौट आती है। 'कृष्णचन्द्र' डूबने जाते हैं और डूब जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भी 'श्रद्धा' डूबने चलती है, 'प्रेमशंकर' उसे बचा कर लौटा लाते हैं। 'ज्ञानशंकर' एक बार तो पानी से निकल आता है, पर दूसरी बार नदी में डूबकर ही सदा के लिए हृदय-दाह को शांत कर देता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर को चोट खानी पड़ती है, 'रंगभूमि' में 'विनय' घायल होता है, 'कायाकल्प' में 'चक्रधर' के कंधे में संगीन घुसती है और 'कर्मभूमि' में 'शान्तिकुमार' घायल होते हैं--सब-के-सब एक ही-सी परिस्थिति में पड़ कर; जनता और जनता के ऊपर अत्याचार करनेवालों के बीच में पड़कर। 'कर्मभूमि' में अंकित अदालत और अभियोग का स्थिति-चित्र प्रायः वैसा ही है जैसा कि 'गबन', 'कायाकल्प' और 'प्रेमाश्रम' में। जब कभी ये शासक और शासित का संघर्ष-चित्र उपस्थित करते हैं, इन्हे बन्दूकें, संगीनें और लाठियाँ चलानी ही पड़ती हैं। जहाँ इस प्रकार की

घटनाओं को वे प्रधानता नहीं भी देना चाहते वहाँ भी, जैसे आप ही आप, किसी न किसी रूप में, वे अवसर पाकर खड़ी हो जाती हैं।

किन्तु, घटनाएँ चाहे नई हों या पुरानी, परिचित हों या अपरिचित, इनके उपन्यासों में उनका विकास-क्रम सम्बद्ध और घटनाओं का सम्बन्ध और स्वाभाविक होता है। 'कायाकल्प' और की घटनाओं असाधारण घटनाएँ भी ये स्वाभाविक विकास इस ढंग और क्रम से रखते हैं कि वे असंगत और अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती कुछ दूर तक अविश्वसनीय भले ही जान पड़ें। ये स्वयं ही एक दूसरी से निकलती चली जाती हैं और प्रधान घटना के साथ सदैव लिपटी रहती हैं। भिन्न-भिन्न घटनाओं का असम्बद्ध वर्णन इनके उपन्यासों में नहीं रहता; ये सब की सब एक दूसरी पर टिकी हुई रहती हैं। सबका उद्देश्य एक होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सब-की-सब एक ही सहारे को पकड़ कर आगे बढ़ती हैं।

यह सम्बद्धता, और उपन्यासों में तो नहीं, पर 'कायाकल्प' में कुछ जटिल हो गई है। इस जटिलता ने उसमें इतने अधिक रहस्यों की उद्भावना कर दी है कि कहीं-कहीं पाठकों की बुद्धि चकरा जाती है। पात्रों के इस जीवन की घटनाएँ तो एक दूसरी से सम्बद्ध हैं ही, इसके अतिरिक्त, उनके जन्म-जन्मान्तर के पारस्परिक सम्बन्ध भी एक दूसरे के साथ आकर इस तरह जुड़ गये हैं कि सीधी तरह से समझ में आते ही नहीं। इसको छोड़ कर, इनके और

किसी भी उपन्यास में 'कष्ट-कल्पना' का दोष नहीं देख पड़ता। घटनाओं की सम्बद्धता और सुस्पष्टता का सामञ्जस्य ही इनकी वस्तु-विन्यास की शैली का सबसे बड़ा सौन्दर्य्य है। किन्तु, 'कायाकल्प' की कथा-सामग्री ही कुछ ऐसी है कि वह इस सामञ्जस्य को आश्रय नहीं दे सकती।

जीवन की घटना या स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण-से-साधारण बातों को भी ये अपनी अलौकिक प्रतिभा का पुट देकर असाधरण बना देते हैं; किन्तु उस असाधारणता में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। सुनते हैं, पारस लोहे को छूकर सोना बना देता है। पर, इनकी प्रतिभा का स्पर्श पाकर मिट्टी भी सोना हो जाती है। ये सदैव देखे हुए दृश्य दिखाते हैं, सुनी हुई बातें सुनाते हैं। पर, क्या मजाल कि हम उन्हें इनकी प्रतिभा के आलोक में देखकर विस्मय-विमुग्ध न हो जायँ, उन्हें इनके पात्रों के मुँह से सुनकर फड़क न उठें!

प्रतिभा का पुट

साधारण-सी बात है कि बच्चों के प्रति सबके हृदय में प्रेम होता है—वे पराये हों या अपने। परन्तु, उन्हें मिठाइयाँ खिलाने में आनन्द भले ही आये, उनके लिये स्वयं मार खाने में कितने लोग सुख का अनुभव कर सकते हैं! लेकिन, मुंशी शालिग्राम का शिशु प्रेम देखिये—"पाषाणहृदया माता अपने बच्चे को मार रही थी। लड़का बिलख-बिलख कर रो रहा था। मुंशी जी से न रहा

गया। दौड़े, बच्चे को गोद में उठा लिया, और उस स्त्री के सम्मुख अपना सिर झुका दिया ('वरदान'—पृ० ४)।" यह एक अत्यन्त छोटी-सी घटना है। किन्तु, प्रेमचन्दजी की प्रतिभा ने इसके भीतर जिस असाधारण भाव-सौन्दर्य्य की सृष्टि कर दी है वह उपन्यास-कला के नाते अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्व बच्चे के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में नहीं, उसकी रक्षा के लिए, अपना सिर झुका देने में है। कोई प्रतिभा-हीन लेखक होता तो शायद उस स्त्री के साथ मुंशीजी की लड़ाई करवा देता, एक दूसरा ही हंगामा खड़ा कर देता!

स्त्रियों का आभूषण-प्रेम इतनी साधारण-सी बात है कि इससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के भीतर किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण नूतनता का पता ही नहीं चलता। किन्तु, प्रेमचन्दजी ने इसी एक छोटी सी बात को लेकर 'गबन' की कहानी आरम्भ की है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसके भीतर जिन मार्मिक घटनाओं की सृष्टि कर दी है वे हमारे हृदय में केवल कलात्मक आनन्द की ही धारा नहीं बहातीं, उसे उच्च भावनाओं और मधुर अभिलाषाओं से भी भर देती हैं। यही इनकी प्रतिभा का प्रभाव है।

प्रतिभा के इसी अविचल प्रभाव के कारण, सर्वथा दोष-शून्य न होकर भी, इनकी वस्तु-विन्यास की प्रणाली शृंखलाबद्ध, प्रौढ़, मार्मिक और मनोरंजक होती है।

चरित्र-चित्रण

उपन्यास वस्तु-प्रधान भी होते हैं और पात्र-प्रधान भी। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिस उपन्यास में वस्तु-विधान पर अधिक ध्यान दिया जाता है उसमें चरित्र-चित्रण की सुन्दरता नहीं आ पाती, और जिसमें चरित्र-चित्रण को ही प्रधानता दी जाती है वह, वस्तु-विन्यास की पुष्ट प्रणाली के अभाव में पड़कर, अपना सारा महत्त्व और आकर्षण खो बैठता है। प्रेमचन्दजी 'वस्तु' और 'पात्र' के इस पारस्परिक विरोध में सदैव सतर्क रहते हैं। इनके उपन्यासों में इन दोनों ही तत्त्वों का उपयुक्त संमिश्रण रहता है; दोनों ही को एक दूसरे पर पर आश्रित रखकर ये उन्हें अपने-अपने काम में लगाये रहते

वस्तु और पात्र की सम्बन्ध रक्षा

है—आपस में लड़ने-भिड़ने का अवसर ही नहीं देते। घटना-चक्र में पड़कर ही इनके पात्रों का चरित्र अंकुरित होता है और पात्रों के चरित्र से ही घटना की सृष्टि भी होती है। 'सेवासदन' की 'सुमन' स्थिति की विषमता से ही वेश्यावृत्ति ग्रहण करती है, किन्तु उस विषम परिस्थिति को सामने लाकर खड़ी करती है उसकी अपनी भोग-भावना ही—उसके चरित्र की दुर्बलता ही। और, जब वह उस जघन्य वृत्ति से छुटकारा पाना चाहती है तब भी उसका अपना ही मनोबल काम करता है। अपनी परिस्थितियों की विधात्री वह स्वयं है, और उन्हीं परिस्थितियों-द्वारा वह अच्छी तरह जानी-पहचानी भी जाती है। 'रंगभूमि' का सब कुछ है 'सूरदास' और 'सूरदास' को अमरत्व प्रदान करनेवाली हैं 'रंगभूमि' की परिस्थितियाँ। 'सूरदास' ही अपने चरित्र-बल से सत्याग्रह-संग्राम का श्रीगणेश करता है और वह सत्याग्रह-संग्राम ही उसके चरित्र-बल की दृढ़ता को बढ़ानेवाला तथा उसकी महत्ता को पूर्णरूप से परिभाषित करने वाला है। 'गबन' वाला 'रमानाथ' अर्थ-संकट में पड़कर ही, इच्छा के सर्वथा विरुद्ध, अपनी स्त्री के आभूषण चुराता है और अपने कार्यालय से रुपये उड़ा लेता है। घटना-चक्र में पड़कर ही वह निर्दोष प्राणियों के विरुद्ध रचे गये अमानुषिक कुचक्रों का संचालक बन जाता है, और अपनी समस्त चारित्रिक दुर्बलताएँ बढ़ाकर, स्वयं भी अवांछनीय जीवन व्यतीत करने को विवश होता है। किन्तु, उस प्रारंभिक घटना का—उस अर्थ-संकटवाली परिस्थिति का—जनक

भी उसका अपना ही चरित्र है। फैशन का गुलाम वह शुरू से था। उसी गुलामी में पड़ कर वह गलती पर गलती करता गया और अन्त में उस परिस्थिति के पंजे में जा पड़ा जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे पतित बनाने का कारण बनी। 'कर्मभूमि' के 'समरकान्त' स्थिति के आग्रह में पड़कर अपनी अर्थ-लोलुपता से ही मुक्त नहीं हो जाते, उस पथ के पथिक भी बन जाते हैं जिस पर अपने पुत्र 'अमरकान्त' का पाँव रखना भी उन्हें पहले नहीं सुहाता था। किन्तु, साथ ही, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपने पिता की अर्थ-लोलुपता देखकर ही अमर के हृदय में उस अर्थ-विराग तथा लोकसेवा की भावना का प्रादुर्भाव होता है जिसके द्वारा, आगे चल कर, 'समरकान्त' को बदल देने वाली स्थिति का निर्माण हुआ है। सारांश यह कि प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र से ही घटनाओं की सृष्टि भी कराते हैं और घटनाओं से ही पात्रों के चरित्र का विकास भी।

स्थिति का प्रभाव चरित्र पर अलक्षित रूप से पड़ता है, इस बात को प्रेमचन्द जी बराबर सिद्ध करते चलते हैं। 'कायाकल्प' का वही 'चक्रधर' जो एक गाय की जीवन-रक्षा के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को कटिबद्ध हो जाता है ('कायाकल्प'—पृ० ४६), जो जेल के दारोगा को बचाने के प्रयत्न में स्वयं अपने आप को संगीन का निशान बना लेता है ('कायाकल्प'—पृ० २४५), जो गरीब किसानों और मजदूरों का सच्चा और स्नेही सेवक है, जब वैभव के मादक

वातावरण में रहने लगता है तब, थोड़ी ही देर के लिये सही, कुछ-न-कुछ अवश्य बदल जाता है। अपनी 'मोटर' उलट जाने पर वह एक किसान से कहता है "तुम लोगों को उसे ठेल कर ले चलना पड़ेगा, × × × मैं कहता हूँ, तुमको चलना पड़ेगा, × × × मैं सीधे से कहता हूँ...।" और जब उसके इस प्रकार 'सीधे से' कहने का भी कोई प्रभाव उस किसान पर नहीं पड़ता तब वह "बाज की तरह किसान पर टूट" पड़ता है "और धक्का देकर" कहता है "चलता है या जमाऊँ दो चार हाथ। तुम लात के आदमी बात से क्यों मानने लगे ('कायाकल्प'—पृ० ४१५, ४१६)!" इस आकस्मिक स्वभाव-परिवर्तन का कारण 'चक्रधर' स्वयं समझ जाता है जब उसे अनुभव होता है कि "रियासत की बू कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उसमें समाती जाती है—कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उसकी मनुष्यता का, चरित्र का, सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है ('कायाकल्प'—पृ० ४२०)।' इस घटना के कारण "चक्रधर को रात भर नींद न आयी।" वह समझ गया कि "इस वातावरण में रहकर (रियासत का मालिक बनकर) मेरे लिये अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है। धन में धर्म है, दया है, उदारता है, लेकिन इनके साथ गर्व भी है जो इन गुणों को मटियामेट कर देता है ('कायाकल्प'—पृ० ४३०)।" इसी के परिणाम-स्वरूप, वह धन-जन का मोह छोड़कर वैरागी बन जाता है। लेकिन, 'प्रेमाश्रम' के 'मायाशंकर' को 'गायत्री' की सम्पत्ति पाकर किसी प्रकार का मद नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह,

स्वभाव से ही विभव-विरागी होने के साथ-साथ, 'प्रेमशंकर' का शिष्य था। एक बात यह भी है कि शील-स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली प्रतिक्रियाएँ अधिकतर जीवन-स्थिति के आकस्मिक परिवर्त्तन पर ही निर्भर रहा करती हैं। 'मायाशंकर' का धनागम आकस्मिक नहीं था, इसीसे उसके लिये वह प्रतिक्रियात्मक न सिद्ध हो सका।

कहीं-कहीं प्रेमचन्दजी इस प्रकार के स्वभाव-परिवर्त्तन का कारण बताना भूल भी जाते हैं। 'कर्मभूमि' की 'मुन्नी' के प्रसंग में इन्होंने ऐसा ही किया है। 'मुन्नी' एक सती-साध्वी नारी है। उसके सिद्धान्त इतने ऊँचे हैं कि परपुरुष-द्वारा बलात् अपवित्र की गई अपनी काया के छाया-स्पर्श से भी वह अपने एकलौते बेटे और प्राणप्रिय स्वामी को अलग रखती है। बच्चे के "केवाल खोलो" कहने पर भी वह किवाड़ नहीं खोलती और पति को सम्बोधन करके भीतर ही से "अपने उमड़ते हुए प्यार को रोकने के लिये" बोल उठती है "तुम क्यों मेरे पीछे पड़े हो? क्यों नहीं समझ लेते कि मैं मर गई? ××× जाकर अपना ब्याह कर लो और बच्चे को पालो। ××× क्यों मेरी टेक तोड़ रहे हो, मेरे मन को क्यों मन में टाल रहे हो? पतिता के साथ तुम सुख से न रहोगे। मुझ पर दया करो, आज ही चले जाओ, नहीं तो मैं सच कहती हूँ, जहर खा लूँगी ('कर्मभूमि'—पृ० २४७)।" सिद्धान्त कितना कठोर है, आदर्शवाद कितना निर्मम! पर मिथ्या नहीं है, बनावटी नहीं है। वह सचमुच अपने पति और पुत्र को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी-हृदय की मातृत्व-

हमें खेद नहीं। उत्थान और पतन तो लगा ही रहता है। खेद तो इ
बात का है, और शिकायत भी यही है, कि बेचारी आदर्श-च्युत हु
क्यों, यह हमें कहीं इशारे से भी नहीं बताया गया है। आश्चर्य होता
जब हम, कुछ ही दिनों बाद, सहसा देखते हैं कि विधवा 'मुन्नी' (
एक स्वर्गीय मित्र के शब्दों में "सार्वजनिक भाभी" बनकर) 'अम
कान्त (एक परपुरुष) के प्रति केवल अपना प्रेम ही नहीं प्रदर्शि
करती, प्रत्युत, उसे रिझाने के विचार से "कछनी काछे हुए, चौ
छाती वाले, एक गठीले जवान के साथ (सार्वजनिक मञ्च पर) क
से हाथ मिला कर, कभी कमर पर हाथ रखकर, कभी कुल्हों को र
से मटकाकर, नाचने में उन्मत्त हो रही है ('कर्मभूमि'—पृ० २२१)
उसकी "यह बेशर्मी" स्वयं अमरकान्त से भी "नहीं सही जाती
पाठकों और आलोचकों से तो भला क्या सही जायगी! 'मुन्नी' के
परिवर्त्तन का कोई भी सन्तोषजनक कारण उपन्यास में कहीं उपस्थि
नहीं किया गया है। जो आदर्श लेकर 'मुन्नी' चलती है, वह एका
इस तरह बीच ही में क्यों टूट जाता है—इस प्रश्न के उत्तर
प्रेमचन्दजी अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि 'भई,
प्रकार की बातें जीवन में कभी-कभी अकारण ही हो जाया करती
किन्तु, यह उत्तर उपन्यास-कला के नाते उपयुक्त समझा जायगा
नहीं, इसमें सन्देह है।

प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में नाट्य-तत्त्वों से भी काम

है। इनकी शील-निरूपण की प्रणाली केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं, अभिनयात्मक भी होती है। पात्रों की भावनाओं एवं मनोवृत्तियों की व्याख्या ये स्वयं भी करते हैं और उन्हें (पात्रों को) भी इस बात का अवसर देते चलते हैं कि वे अपने कथन और कार्यों से, या औरों की आलोचनात्मक सम्मति के द्वारा, अपने शील-स्वभाव का परिचय प्रदान करें। प्रेमचन्दजी अपनी ओर से भी कहते हैं कि "रानी देवप्रिया का बुढ़ापा अतृत तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना ('कायाकल्प'—पृ० ८१)" और उसके भावों, कथनों तथा व्यापारों-द्वारा भी अपने इस अभिमत की परिपुष्टि कराते चलते हैं। ये हमें स्वयं भी बताते हैं कि "ज्ञानशंकर के हृदय में भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं। वह अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। × × × चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उसका ध्येय था...('प्रेमाश्रम'—पृ०६) और "ज्ञानशंकर की दृष्टि में आत्म-संयम का महत्त्व बहुत कम था ('प्रेमाश्रम'—पृ० १०४)।" 'विद्या' भी मन में सोचती है "हृदय का कितना काला, कितना धूर्त, कितना लोभी, कितना स्वार्थान्ध मनुष्य है कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी की जान, किसी की आबरू की भी परवा नहीं करता ('प्रेमाश्रम'—पृ० ५००)।" ज्ञानशंकर की अपनी बातों और व्यापार-चेष्टाओं से भी हमें यही पता चलता है। उसके सम्बन्ध में

शील-निरूपण की प्रणाली

उपन्यासकार की तथा और-और पात्रों की जो धारणाएँ हैं उनके सर्वथा सत्य होने का समर्थन करने वाली स्वयं उसकी करनी भी है।

अपनी ओर से उपन्यास के पात्रों के शील-स्वभाव के सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी उतना ही कहते हैं जितना अवसर के नाते आवश्यक प्रतीत होता है। बीच-बीच में संकेत भर देते चलते हैं—विवरणात्मक अभिमत प्रकट करने की रसहीन शैली का आश्रय नहीं लेते। पात्र स्वयं ही अपने मन, वचन और कर्म से अपने चरित्र का विश्लेषण करते चलते हैं, और अन्यान्य पात्रों को भी उसके सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने का अवसर देते रहते हैं। इनके उपन्यासों के कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो अपने सम्बन्ध में कहना या कहवाना कम जानते हैं, कार्यों-द्वारा आत्माभिव्यक्ति करना अधिक। 'कायाकल्प' की 'मनोरमा' के हृदय में 'चक्रधर' के प्रति जिस प्रेम भावना की सृष्टि होती है उसकी रक्षा वह जीवन-पर्यन्त करती चली जाती है, पर उसकी वह साधना जितनी नीरव और निष्काम है, उतनी ही सुदृढ़ और सक्रिय भी। अपने 'आराध्य' की उपासना के लिए ही वह अपने जीवन को उत्सर्ग-पुष्प बना देती है, किन्तु 'उनसे' न तो कभी खुल कर इसकी चर्चा करती है और न इसके बदले में कुछ पाना चाहती है। कर्त्तव्य और त्याग के सौन्दर्य से प्रेम की शोभा बढ़ाने वाली यह 'मनोरमा' ही 'कायाकल्प' की औपन्यासिक मार्मिकता का संरक्षण करनेवाली है। 'रंगभूमि' की 'सोफिया' का प्रेम भी इतना नीरव,

इतना निस्पृह, इतना करुण नहीं जितना कि इसका।

स्थल और अवसर के अनुसार, कभी-कभी, नाटकीय ढंग से पात्रों का प्रवेश कराके प्रेमचन्द घटना को ही प्रगतिशील नहीं बनाते, चरित्र-चित्रण की प्रणाली में भी एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक मनोरमता ले आते हैं। अमरकान्त ने "सकीना को छाती से लगा लेने के लिए अपनी तरफ़ खींचा। उसी वक्त द्वार खुला और पठानिन अन्दर आई। सकीना एक कदम पीछे हट गई। अमर भी ज़रा पीछे खिसक गया ('कर्मभूमि'—पृ० १७४)।" स्वभाव और सूझ के अनुसार ही लोग ऐसे अवसर पर काम करते हैं। अमर ने स्वाभाविक स्नेह और भय-भीरुता से काम लेकर "बात बनाई—आज तुम कहाँ चली गईं थीं अम्मा? मैं यह साड़ियाँ देने आया था × × ×।" बुढ़िया भी दरिद्रता के आवरण से ढके हुए अपने आत्म-सम्मान तथा स्वाभाविक रोष से काम लेती हुई "आँखें निकालकर बोली—होश में आ छोकरे। × × × हम यहाँ तेरी साड़ियों के भूखे नहीं हैं। + × × हम गरीब हैं, मुसीबत के मारे हैं, रोटियों के मुहताज हैं। जानता है क्यों? इसलिए कि हमें आबरू प्यारी है। खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह में कालिख लगाकर चला जा।" लेकिन, सकीना? वह तो 'अमर' का हाथ पकड़कर रोती हुई कहती है "मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ। मैं बेआबरू ही रहूँगी ('कर्मभूमि'—पृ० १७५)।" एक ही स्थल पर, एक ही घटना के द्वारा, तीनों पात्रों के स्वभाव की कितनी मार्मिक, मनोहर और विशद व्याख्या कर दी गई

है ! 'सेवासदन' में भी, साधु के रूप में 'गजाधर' को इसी प्रकार के नाटकीय ढंग से लाकर कई स्थलों पर इन्होंने खड़ा किया है। वह आता है, कुछ कहकर स्थिति का स्वरूप बदल देता है और फिर तुरन्त ही अदृश्य हो जाता है। अमोला में, 'शान्ता' के विवाह के अवसर पर वेश्यानृत्य के अभाव से क्रुद्ध होकर, जब लोग बरातियों के शामियाने पर, पत्थर फेंकने लगते हैं, एक हलचल सी मच जाती है, मार-पीट तक की नौबत आ खड़ी होती है, उसी समय अकस्मात् एक दीर्घकाय पुरुष, सिर मुड़ाये, भस्म रमाये, हाथ में एक त्रिशूल लिये आकर महफिल में खड़ा हो" जाता है और उसे देखते ही "महफिल में सन्नाटा छा" जाता है ('सेवासदन'—पृ० १९३)। उसके मुँह से जब लोग सुनते हैं "विषय-भोग के सेवको ! तुम्हें नाच का नाम लेते लाज नहीं आती ? अपना कल्याण चाहते हो तो इस नीति को मिटाओ ! इस कुवासना को तजो, वेश्याप्रेम का त्याग करो ('सेवा-सदन'—पृ० १९४)।" तब सब-के-सब "मूर्तिवत्" निश्चल और निर्वाक् हो जाते हैं। स्थिति बदल जाती है, 'गजाधर' अदृश्य हो जाता है। इसी तरह घटनास्थल पर ये पात्रों का आकस्मिक आगमन कराके उनके स्वभाव और प्रभाव का परिज्ञापन करते हैं, और इस काम में इन्हें असफलता से अधिक सफलता ही मिलती है। चरित्र-चित्रण में अभिनयात्मक प्रणाली का भी आश्रय ये वहीं तक ग्रहण करते हैं जहाँ तक वह इनके उपन्यास को नाटक का विकृत रूप धारण करने से बचाती है।

शीलनिरूपण की प्रणाली का स्वरूप चाहे जैसा हो, मुख्य बात

आगे न निकल सका।

परिस्थिति के घात-प्रतिघात में पड़कर जिस चरित्र का विकास होता है उसके चित्रण में प्रेमचन्दजी बड़ी कुशलता से काम लेते हैं। उसमें कहीं किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। 'सेवा-सदन' वाला 'सदन सिंह' जब, अपने पिता 'मदन सिंह' की इच्छा और आशा के विरुद्ध, 'शान्ता' को पत्नी के रूप में ग्रहण कर, सबसे अलग हो जाता है तब उनकी यह दशा हो जाती है कि जो उनके पास आता है उसीसे वे 'सदन' की बुराई करने लगते हैं "कपूत है, भ्रष्ट है, शोहदा है, लुच्चा है, एक कानी कौड़ी तो दूँगा नहीं; भीख माँगता फिरेगा तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। ......जोगी हो जाऊँगा, संन्यासी हो जाऊँगा, लेकिन उस छोकरे का मुँह न देखूँगा ('सेवासदन'—पृ० ३३६, ४०)।" इसके बाद ही उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्त्तन होता है। किसी दूसरे के मुँह से उसकी बुराई सुनकर अनमने भाव से कहते हैं "भाई! अब क्यों उसे कोसते हो? अच्छा है या बुरा है, अपने चार पैसे कमाता है, खाता है।... क्या चाहते हो कि वह भीख माँगे, दूसरों की रोटियाँ तोड़े? ... अभी जवान है, शौकीन है, अगर कमाता है और उड़ाता है तो किसी को बुरा क्यों लगे ('सेवासदन—पृ० ३४०)?" पुत्र वियोग उन्हें धीरे-धीरे असह्य हो उठता है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। कुछ ही दिन बाद अपने छोटे भाई 'पद्म सिंह' के मुँह से "बेटा मुबारक हो" सुनकर वे बोल उठते हैं 'अरे! यह तो तुमने बुरी खबर सुनाई!...

मुझे अवश्य खींच ले जायगा। मेरे तो कदम अभी से उखड़ गये!··· धूम-धाम से छुट्टी मनायेंगे। बस, कल सवेरे चलो ('सेवासदन'—पृ० १४४)।"

"तो बाबा, तुम अपने बाल-बच्चों को लेकर अलग हो जाओ, मैं तुम्हारा बोझ नहीं सम्हाल सकता। ··· घर को अपना समझो, तो तुम्हारा सब कुछ है। ऐसा नहीं समझते, तो यहाँ तुम्हारा कुछ नहीं है ('कर्मभूमि'—पृ० १४६)।" इतना कहकर अपने पुत्र 'अमर' को घर से निकाल देनेवाले 'समरकान्त' जब बीमार पड़ जाते हैं, और उनकी पुत्र-वधू 'सुखदा' जब उनकी सेवा-शुश्रूषा करने आती है, तब उनके मुँह से कितना सुन्दर और स्वाभाविक उपालम्भ निकल पड़ता है! "अभी क्या आने की जल्दी थी बहू, दो चार दिन और देख लेतीं। तब तक यह धन का साँप उड़ गया होता। यह लौंडा समझता है, मुझे अपने बाल-बच्चों से धन प्यारा है······कृपण बना, बेईमानी की, दूसरों की खुशामद की, अपनी आत्मा की हत्या की, किसके लिए? जिसके लिए चोरी की, वही आज मुझे चोर कहता है ('कर्मभूमि'—पृ० १६७)।" कितने मार्मिक और स्नेह-भरे शब्द हैं, कितने करुण और वेदनापूर्ण! बहू जब जाने लगती है तब वे स्नेह-भरी आँखों से उसे देख कर कहते हैं "मैं जानता कि तुम मेरी तीमारदारी ही के लिए आई हो, तो दस-पाँच दिन और पड़ा रहता ('कर्मभूमि'—पृ० १६६)।" पिता की अर्थ-पैशाचिकता भी बाल-बच्चों की सुख-कामना लेकर ही चलती है, यही लाला समरकान्त के इस

भाव परिवर्त्तन द्वारा दिखलाया गया है।

जिस 'समरकान्त' की धर्मान्धता और कट्टरता के कारण देव-दर्शनोत्सुक अछूतों पर गोलियाँ चलाई जाती हैं वही, अपने बहू-बेटे के जेल चले जाने पर, मुसलमान (सलीम) के साथ, एक ही आसन पर बैठकर, भोजन करने लगते हैं। किन्तु, ऐसा करने के पहले कितनी सचाई और स्वाभाविकता से कहते हैं—"संस्कारों को मिटाना मुश्किल है। अगर जरूरत पड़े, तो मैं तुम्हारा मल उठाकर फेंक दूँगा; लेकिन तुम्हारी थाली में मुझसे न खाया जायगा ('कर्मभूमि'—पृ॰ ४६६)।" अपने पुत्र-प्रेम के कारण ही इतनी तत्परता से परिस्थिति का प्रभाव ग्रहण कर लेने में वे समर्थ होते हैं। इसी कारण वे 'सलीम' को भी पुत्र-तुल्य समझने लगते हैं और उसके इस चुटकी लेने पर कि "अब तो आप मुसलमान हो गये", उससे कहते हैं "मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिन्दू हो गये ('कर्मभूमि'—पृ० ४७०)।"

इनके उन्हीं पात्रों के चरित्र-चित्रण में थोड़ी-बहुत अस्वाभाविकता आ जाती है जिनके आदर्श और सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक ऊँचे होते हैं। परिस्थिति के चपेटे में पड़कर भी वे कभी झुकते न हों, सो बात नहीं। झुकते हैं, पर, वहाँ, जहाँ नहीं झुकना चाहिए,—नहीं झुकते हैं, वहाँ, जहाँ झुक जाना ही अधिक स्वाभाविक है। इनके पात्रों के आदर्शवाद और सिद्धान्त-प्रेम जब हृदय की सुकुमार भावनाओं तथा मनोवैज्ञानिक सचाइयों का साथ छोड़ देते हैं तब, औपन्यासिक अभिरुचि के नाते, वे हमारे काम के नहीं रह जाते—निष्ठुर और नीरस-से लगने लगते हैं। 'कर्मभूमि' की

'मुन्नी' का उच्चादर्श कुछ-कुछ ऐसा ही है इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। 'रंगभूमि' में 'ईश्वरसेवक' भी 'प्रभु मसीह' के भक्त हैं और 'मिसेज जॉन सेवक' भी। 'सोफिया' एक की पोती है—दूसरी की बेटी। एक सच्चे ईसाई की तरह, ईश्वरसेवक तो उस लड़की के धार्मिक विद्रोह को अपने प्यार से दबाने की चेष्टा करते हुए कहते हैं "वह (सोफ़िया) मेरे खून का खून, मेरी जान की जान, मेरे प्राणों का प्राण है। मैं उसे कलेजे से लगाऊँगा। प्रभु मसीह ने विधर्मियों को छाती से लगाया था···वह मेरी सोफिया पर अवश्य दया करेंगे ('रंगभूमि'—पृ० ४२)।" परन्तु 'मिसेज जॉनसेवक' अपनी बेटी के मुँह से इतना सुनते ही कि "धार्मिक विषयों में मैं अपनी विवेक-बुद्धि के सिवा और किसी के आदेशों को नहीं मानती" इस बुरी तरह झल्ला उठती है कि उसे यह भी कहते देर नहीं लगती कि "मैं तुझे अपनी संतान नहीं समझती, और तेरी सूरत नहीं देखना चाहती।" इतना ही नहीं, स्पष्ट शब्दों में यह भी कह देती है कि "प्रभु मसीह से विमुख होनेवाले के लिए इस घर में जगह नहीं है ('रंगभूमि' पृ० ४१)।" जब इन बातों से भी उसे संतोष नहीं होता तब यहाँ तक कह डालती है कि 'तेरे कर्मों से तेरे मुख में कालिख लगेगी ('रंगभूमि'—पृ० ४७)।" बेचारी सोफ़िया, इन निर्मम शब्द-बाणों का आघात नहीं सह सकती, घर छोड़कर चली जाती है! पर, माता का हृदय नहीं पसीजता! 'कुँवर भरत सिंह' के पत्र-द्वारा जब उसे मालूम होता है कि "एक झोपड़े में आग लग गई थी। वह (सोफिया) भी उसे

बुझाने लगी। कहीं लपट में आ गई।" तब भी वह निष्ठुरतापूर्वक कहती है "ये सब बहाने हैं। ...जब कहीं शरण न मिली तो यह पत्र लिखवा दिया। अब आटे-दाल का भाव मालूम होगा ('रंगभूमि'—पृ० ६४)।" बड़ी मुश्किल से, अपने पति के संग, उसे मनाने भी जाती है तो वहाँ जाकर उससे यही कहती है कि "खुदा से मेरी यही प्रार्थना है कि वह मुझे तेरी सूरत न दिखाये ('रंगभूमि'—पृ०७२)।" 'माँ' कहलानेवाली एक नारी की यह निष्ठुरता अस्वाभाविकता की सीमा का ही अतिक्रमण नहीं करती, अनावश्यक-सी भी प्रतीत होती है। जिस छोटी-सी बात को लेकर उसकी धार्मिक भावना ने इतना बड़ा कुकाण्ड खड़ा किया, उसके मातृत्व का कर्त्तव्य था कि वह उसे अपनी स्वाभाविक उदारता से ही दबा देता। जिसको "अपना मसीह सारे संसार से, संतान से, यहाँ तक कि अपनी जान से भी प्यारा है ('रंगभूमि'—पृ० ७२)!" उसके मातृत्व में भी थोड़ा-सा स्नेह, थोड़ी-सी करुणा, सहृदयता और सहिष्णुता का होना आवश्यक समझा जाना चाहिये था। इन कोमल उपकरणों के अभाव में पड़कर मिसेज जॉन सेवक, और चाहे जो कुछ हों, माता नहीं रह गई हैं। इसी 'रंगभूमि' वाली 'रानी जाह्नवी' की और-और दृढ़ताएँ तो ठीक हैं, परन्तु "कुँअर विजय सिंह की वीर-मृत्यु के पश्चात् भी उनका सदुत्साह दुगना हो गया। वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गईं। उनके रोम-रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ। वृद्धावस्था की आलस्य-प्रियता यौवन-काल की कर्मण्यता में परिणत

हो गई ('रंगभूमि'—पृ० ६२६)।" ये बातें स्वाभाविक-सी नहीं जान पड़तीं। वैसे अच्छे बेटे के अमर वियोग का कुछ तो शोक होना चाहिये था, कुछ तो उस शोक का प्रभाव मन और शरीर पर पड़ना चाहिये था!

इनकी चरित्र-चित्रण की प्रणाली में कुछ ऐसी बातें भी मिलती हैं जिनका सम्बन्ध, अस्वाभाविकता से तो नहीं, पर, अविश्वसनीय

अविश्वसनीय संभावना

संभावना से रहता है। इस संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। किन्तु, कुछ ऐसी संभावनाएँ अवश्य होती हैं जिन पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता, या जिन पर विश्वास टिकता ही नहीं, जैसे, "रात्रि के उस अगम्य अन्धकार में शंखधर भागा जा रहा था। उसके पैर पत्थर के टुकड़ों से चलनी हो गये थे। सारी देह थककर चूर हो गई थी, भूख के मारे आँखों के सामने अन्धेरा छाया जाता था, प्यास के मारे कंठ में काँटे पड़ गये थे। पैर कहीं रखता था, पड़ते कहीं थे। पर वह गिरता-पड़ता भागा चला जा रहा था ('कायाकल्प'—पृ० ५०६)।" इतना ही नहीं "पहाड़ी की चढ़ाई कठिन थी। शंखधर को ऊपर चढ़ने का रास्ता न मालूम था। (तिस पर भी) वह इतनी तेजी से चढ़ रहा था कि दम के दम में ऊपर पहुँच गया ('कायाकल्प'—पृ० ५१०)।" इस विवरण को हम अस्वाभाविक नहीं कहते, असंभव भी नहीं कह सकते, लेकिन जब देखते हैं कि इतना कष्ट उठाकर वह जिस स्थान पर पहुँचता है वहाँ से साईंगंज (जिस गाँव में वह जाना चाहता है)

पड़ता है कोई पाँच कोस, "मगर रास्ता बीहड़ है" और उतना अधिक थका हुआ होने पर भी वह लड़का "कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, चुपचाप अंधशक्ति की भाँति चला जा रहा है ('कायाकल्प'-पृ० ५११)", तब निस्सन्देह हमारे मन में उठ आता है—यह आदमी है या देवता या राक्षस ? इसके शरीर में कोई यंत्र तो नहीं लगा हुआ है ? 'रंगभूमि' के 'सूरदास' की शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन भी इसी प्रकार से किया गया है ! "मन, इतने दुखी न हो, माँगना तुम्हारा काम है, देना दूसरों का काम है" ऐसे ऊँचे भाव रखनेवाला वह चक्षु-विहीन भिखारी भीख के पीछे पूरा एक मील तक 'जॉन सेवक' की गाड़ी के साथ दौड़ता ही चला जाता है ! दुबला-पतला होकर भी वह "जगधर जैसे मोटे ताजे आदमी" के साथ मल्लयुद्ध करता है और उसमें, एक बार नहीं, दो-दो बार विजयी बनता है ('रंगभूमि' पृ० १६७)। यह बात इतनी अविश्वसनीय, इतनी आश्चर्यपूर्ण है कि 'ठाकुरदीन' को विश्वास हो जाता है कि "सूरे को किसी देवता का इष्ट है ('रंगभूमि'—पृ० १६७)।" 'कर्मभूमि' वाले 'तेग मुहम्मद' भी पढ़े-लिखे आदमी थे और 'सलीम' भी। लेकिन बात ही बात में दोनों गँवारों की तरह भिड़ गये। "हाथापाई की नौबत आ गई। तेग मुहम्मद पहलवान था। सलीम भी ठोकर चलाने और कुँसबाजी में मँजा हुआ। पहलवान साहब उसे अपनी पकड़ में लाकर दबोच बैठना चाहते थे। सलीम ठोकर पर ठोकर जमा रहा था... ('कर्मभूमि'—पृ० ४६८)।" पात्रों की बौद्धिक संस्कृति और गंभीर

परिस्थिति को देखते हुए यह मल्लयुद्ध सर्वथा अप्रासंगिक तथा अवि-श्वसनीय-सा प्रतीत होता है। उपन्यास के उस स्थल पर—जहाँ स्वयं नलीन 'आत्मानन्द' से कहता है "आप कुछ भंग तो नहीं खा गये हैं? भला यह रिवालवर चलाने का मौका है!"—यह घटना व्यर्थ-सी भी खलती है। 'गोदान' में डॉक्टर मेहता और मिर्जा खुर्शेद की कुश्तीनुमा कबड्डी भी किसी प्रकार की औपन्यासिक सुरुचि और स्वा-भाविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखती ('गोदान'—पृ० २३१)। 'सेवासदन' वाली 'सुमन' वेश्यालय में पहुँचकर भी, "पतित होकर भी, खान-पान में विचार करती थी, अपने ही हाथ से भोजन बनाती थी ('सेवासदन'—पृ० १३४)।" जिसने केवल भोग-भावना से ही प्रेरित होकर अपने पति-गृह का परित्याग कर दिया, सब तरह के सुख और आराम का उपभोग करना ही जिसका एकमात्र उद्देश्य रहा, अपने घर में जिसका "चूल्हे के सामने जाने को जी न चाहता था" और जो कहती थी—"बदन में यों ही आग लगी हुई है, यह आँच कैसे सही जायगी ('सेवासदन'—पृ० २३)।" वही 'सुमन' उस विलास की जगह पर पहुँचकर भी "अपने हाथ से भोजन बनाने" का कष्ट-भार क्यों और किस तरह वहन कर रही थी, यह समझ में नहीं आता। यही कारण है कि हम इसकी संभावना स्वीकार करते हुए भी इस पर अपना विश्वास नहीं जमा सकते। एक और घटना लीजिए। ताहिर अली, अपने छोटे भाई माहिर अली की कृतघ्नता से मर्माहत ही होते हों, सो बात नहीं, आपे से इतना अधिक बाहर हो

जाते हैं कि "इसके पहले कि माहिर अली कुछ जवाब दें, या सोच सकें कि क्या जवाब दूँ, या ताहिर अली को रोकने की चेष्टा करें, ताहिर अली ने झपटकर कलमदान उठा लिया, उसकी स्याही निकाल ली और माहिर अली की गर्दन जोर से पकड़ कर सारी स्याही मुँह पर पोत दी ('रंगभूमि'—पृ० ६०२)।" लेकिन इस तरह "भरी मजलिस" बुरा-भला कहे जाने तथा "मुँह में कालिख" पोती जाने पर भी (थानेदार साहब) "माहिर अली स्तंभित-से बैठे रहे ('रंग-भूमि'—पृ० ६०१)"—अपने अपमान का उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया। दोनों के काम एक-से अविश्वसनीय हैं, क्योंकि बड़े भाई साहब "इतने गुस्सेवर कभी न थे ('रंगभूमि'—पृ० ६०५)" और छोटे भाई साहब में न तो सहिष्णुता का भाव था, न उदारता का।

चरित्र के विभिन्न अंगों का विश्लेषण

पात्रों के विषय में प्रेमचन्दजी एक ही समय सब कुछ घटना-चक्र की गति के अनुसार धीरे-धीरे उसके चरित्र के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करते चलते हैं। मानव-प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली शायद ही कोई ऐसी बात हो जिसका उल्लेख करना ये भूल जाते हों। चरित्र का एक ही अंग पकड़कर, उसके एक ही पक्ष पर दृष्टि आरोपित करके, इनका कोई भी पात्र नहीं चलता। आदर्शवाद-द्वारा अपने देवत्व का विश्वास दिलानेवाले भी मानवीय दुर्बलताओं से सब प्रकार मुक्त नहीं रहते, और जिनकी स्वार्थान्धता या नीचता केवल दानवीय प्रवृत्ति का ही परिज्ञापन करती है उनमें भी कुछ-न-कुछ मानवोचित सद्गुण छिपे रहते हैं।

'रंगभूमि' का 'सूरदास' अपने देव-गुणों के कारण अद्भुत और आश्चर्यजनक होते हुए भी "देवता न था, फरिश्ता न था। एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था—अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था। सभी दुर्गुण इसी एक गुण के सम्पर्क से, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे ('रंगभूमि'—पृ० ८८२)।" वैभव-लालसा में पड़कर 'ज्ञानशंकर' सब प्रकार की नीचताएँ कर सकता है; किन्तु अपने "त्यागी पुत्र के धर्मज्ञ पिता कहलाने का गौरव" न पा सकने के परिताप में "लज्जा-हीन' और "बेहया" होकर जीवित नहीं रह सकता; सच्चे हृदय से इस बात का अनुभव करने लगता है कि "मैं अब किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। सम्पत्ति, मान, अधिकार, किसी का शोक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रह सकता है, बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है ('प्रेमाश्रम'—० ६४७१)।" पश्चा-ताप की आग में तपी हुई यह निर्मल अनुभूति, उसकी अन्तरात्मा को छूकर, मरते समय उसको पशु से मनुष्य बना देती है। 'कर्मभूमि' का 'काले खाँ' चोर, डाकू, हत्यारा, सब कुछ है। थोड़े-से चाँदी के टुकड़ों के लिए वह सब कुछ कर सकता है। नृशंसता ही उसका व्य-वसाय है। पर वही जेल में 'अमर' से कहता है "यह तो अच्छा नहीं लगता कि तुम मेरे साथ चक्की पीसो। तुम्हें मैं न पीसने दूँगा

('कर्मभूमि'—पृ० ४८२)।" वह चर्खा चलाता जाता है और बातें भी करता जाता है "भैया ! कोई काम बनाव समझकर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि काम में उन्हें वही मजा आवे जो गाने या खेलने में आता है ('कर्मभूमि'—पृ० ४८४)।" कितने सुन्दर विचार हैं, कितनी गंभीर अनुभूति है ! "वही काणू, जिसे 'अमर' ने एक दिन अधमता के पैरों के नीचे लोटते देखा था, आज देवत्व के पद पर पहुँच गया था। उसकी आत्मा से मानों एक प्रकाश-सा निकलकर अमर के अंतःकरण को आलोकित करने लगा ('कर्मभूमि'—पृ० ४८५)।" 'रंगभूमि' वाली 'सोफिया' में दया है, प्रेम है, त्याग है, सेवा-भाव है, शालीनता है, सुशीलता है, पर, साथ ही, वह अपने 'त्रिया-चरित्र' से भी अच्छी तरह काम लेना जानती है; 'मि० क्लार्क' के साथ घोर विश्वासघात भी करती है। 'गबन' की 'जोहरा' एक वेश्या है, लेकिन, स्त्री होने के नाते, एक दूसरी स्त्री को संकट-मुक्त करने के लिए, जिस निस्स्वार्थ प्रेम और त्याग का परिचय देती है वह कितना सुन्दर है, कितना पवित्र ! 'गोदान' की 'सिलिया' और 'चुहिया' भी अपनी अपनी जगह पर बड़ी ही अच्छी दीख पड़ती हैं—एक प्रेम की अनन्यता के नाते, दूसरी सेवा-भाव की पवित्रता के नाते। और ये दोनों ही स्त्रियाँ 'छोटी जाति' की हैं !

किसके चरित्र का कौन-सा अंग दुर्बल है, किसकी कैसी मनोवृत्ति है, इसका परिचय प्रेमचन्दजी बड़े मार्मिक और मनोरंजक ढंग से देते

है। पाप-भीरुता, स्त्रीस्वभाव का एक अंग है, उसके चरित्र की एक स्वाभाविक दुर्बलता है। 'शीलमणि' पहले तो अपने पति ज्वाला सिंह को इसी बात पर विवश करने को अड़ी रहती है कि चाहे जैसे हो, वे 'ज्ञानशंकर' को ही डिग्री कर दें। लेकिन जब उनके मुँह से सुनती है "यह सोच लो कि तुम अपने ऊपर कितना बड़ा बोझ ले रही हो। लखनपुर में प्लेग का भयंकर प्रकोप हो रहा है। ज्ञानशंकर डिगरी पाते ही जारी कर देंगे।...यह दोनों की हाय किस पर पड़ेगी, यह खून किसके गरदन पर होगा?" तब वह काँप उठती है और कहने लगती है "यदि यह हाल है तो आप वही कीजिये जो न्याय और सत्य कहे। मैं गरीबों की आह नहीं लेना चाहती ('प्रेमाश्रम'—पृ० २४०)।"

स्त्रियाँ प्रेम करना भी जानती हैं और उसे छिपाना भी। पहले तो 'निर्मला' अपने स्वाभाविक स्नेह की प्रेरणा में पड़कर 'मनसाराम' से अत्यन्त कोमल वाणी में कहती है "मेरे कहने से चलकर थोड़ा-सा खा लो। तुम न खाओगे तो मैं भी जाकर सो रहूँगी...।" इतने ही में 'मुंशी तोताराम' को आते देखती है तो तुरन्त कमरे से निकल जाती है और कठोर स्वर में बोल उठती है "मैं लौंडी नहीं हूँ कि इतनी रात तक किसी के लिए रसोई के द्वार पर बैठी रहूँ। जिसे न खाना हो वह पहले ही कह दिया करे ('निर्मला'—पृ० १०७)।" इस प्रकार के प्रेम-परिगोपन का एकमात्र कारण यही था कि 'तोताराम' उन दोनों पर विश्वास नहीं करते थे—उनके पारस्परिक स्नेह से सशंक बने रहते थे। जवान पत्नी वाले बूढ़े की यह एक स्वाभाविक दुर्बलता है।

ग्रहण किये चलते हैं। मनस्तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना इनकी

मनस्तत्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

चरित्र-चित्रण-कला का एक मुख्य काम होता है। किससे, कब, किस तरह, कैसी बातें कहने से क्या असर पड़ेगा, किस स्थिति में किसके मन की अवस्था कैसी रहती है, आदि बातों की मनोवैज्ञानिक जानकारी का अभाव इनके पात्रों में नहीं रहता। सौदा बेचनेवाला जानता है कि सहृदयता से भरे हुए शब्द ग्राहकों पर—विशेष कर स्त्रियों पर—चोट किये बिना नहीं रहते और इससे सौदा पटाने में सफलता मिलती है। 'जालपा' की माँ जब बिसाती से कहती है "यह तो बड़ा महँगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।"—तब वह बड़े "मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहता है—बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चन्द्रहार मिल जायगा।" जालपा की माता के "हृदय पर इन सहृदयता से भरे शब्दों ने चोट की। हार ले लिया गया ('गबन'—पृ० २)।"

'प्रेमाश्रम' के 'राय कमलानन्द' अपने दामाद 'ज्ञानशंकर' के हृद्गत भावों की थाह लेना चाहते हैं, उसकी क्षुद्रता और स्वार्थपरता का तमाशा देखना चाहते हैं, तो उससे 'प्रेमशंकर' के सम्बन्ध में बातचीत करते हुए कहते हैं "संभव है, मेरी शंका निर्मूल हो, पर मेरा अनुभव है कि विदेश में बहुत दिनों तक रहने से प्रेम का बन्धन शिथिल हो जाता है।" उनके मुख से इतना सुनकर 'ज्ञानशंकर' अपने भावों को छिपा नहीं सकता—"खुलकर बोल" उठता है—"मुझे

नहीं लेता—संकोचवश कहता है, इसकी क्या जरूरत है। लेकिन जब रुपये जेब में डाल दिये जाते हैं, तो दर्प से मुस्कुराता हुआ घर की राह लेता है ('सेवासदन'—पृ० ६०)।" जो दुष्कामना सुदृढ़ आत्म-सम्मान से भयभीत होकर भाग जाती है उसी के आगे असहाय संकोच पराजित हो जाता है—इसका कितना बढ़िया चित्र प्रेमचन्दजी ने खींचा है! इस तरह के मानसिक द्वन्द्वों को अंकित करने में ये कमाल करते हैं। जो आदमी जीवन भर दुष्कर्म करके उसके द्वारा अपनी अभीष्ट-सिद्धि में सफल नहीं हो पाता उसकी एक ऐसी अवस्था आती है जब वह न तो जीवित रह सकता है और न मरना ही चाहता है। ग्लानि उसके जीवन को धिक्कारती है, भोग-विलास की रँगीली अवधि के अन्त का निश्चय उसे मृत्यु से डराता है। 'ज्ञानशंकर' जब ऐसी ही स्थिति में आ पड़ता है तब भीतर-ही-भीतर तड़पता हुआ कहता है "मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे? हाय मैं जबरन मारा जा रहा हूँ!" यह मानसिक उद्वेग इतना असह्य हो उठता है कि वह जोर से रो पड़ता है! चेतनावस्था में वह अपने-आपको जल-निमग्न नहीं कर सकता—"एक अचेत शून्य दशा में" उठता है और गंगा में कूद पड़ता है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ६४८)! पापमय जीवन का कितना मार्मिक अन्त है! कितना करुण, कितना स्वाभाविक!

कच्चा चोर अपने-आपको छिपा नहीं सकता, अपने मानसिक उद्वेगों को दबा रखने की क्षमता उसमें नहीं होती। इसीसे 'निर्मला'

जब "सवेरे जलपान लेकर स्वयं 'सियाराम' के पास पहुँची तो वह उसे देखकर चौंक पड़ा। रोज तो भुंगी आती थी। आज यह क्यों आ रही हैं।" 'निर्मला' उससे पूछती है "रात को तुम मेरे कमरे में गये थे?" तब देखिये, किस मनोवैज्ञानिक सफाई के साथ वह उत्तर देता है—"मैं! भला रात को क्या करने जाता। क्या कोई गया था?" इतना ही कहकर वह मौन नहीं हो जाता, अपने को निरपराध सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहता है "मैं तो रात को थियेटर देखने चला गया था। वहाँ से लौटा तो एक मित्र के घर लेट रहा।... जिससे चाहें पूछ लें। हाँ भाई, मैं बहुत डरता हूं। ऐसा न हो, कोई चीज गायब हो गई हो तो मेरा नाम लगे!" ऐसे चोर, अपने को साधु सिद्ध करने के उद्देश्य से, बड़ी तत्परता के साथ, स्थिति और घटना का विश्लेषण भी करने लगते हैं; चोर और माल का भी पता लगाने को वे स्वयं, और सबसे पहले, प्रस्तुत हो जाते हैं। तभी तो जियाराम कहता है "खूब अच्छी तरह तलाश कर लिया है? चलिये, मैं तो देखूँ। आखिर ले कौन गया? चोर आया किस रास्ते से! आप लोग सो भी तो जाती हैं मुर्दों से बाजी लगाकर ('निर्मला'—पृ० २२८)।"

इसी तरह, स्थिति और प्रकृति के अनुसार मनुष्य के मन में कब किस प्रकार की हलचल उठ खड़ी होती है और शारीरिक चेष्टाओं, शब्दों तथा कार्यों-द्वारा उसकी अभिव्यक्ति कैसे की जाती है, इस बात को प्रेमचन्दजी इतनी सुगमता और सुन्दरता से बताते चलते हैं

कि उसमें हमें किसी प्रकार की अवास्तविकता का सामना नहीं करना पड़ता।

इनकी शील-निरूपण की प्रणाली एक बात की ओर अनायास ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। वह है इनके पात्रों की चरित्र-परम्परा। इनके पात्र आदर्श, सिद्धांत तथा मनोवृत्ति के नाते, सभी उपन्यासों में प्रायः एक ही-से होते हैं।

पात्रों की चरित्र-परम्परा

स्त्री पात्र हों या पुरुष पात्र, हिन्दू हों चाहे मुसलमान, साधु स्वभाव-वाले हों या दुष्ट प्रकृति के—इनमें से जिस किसी का भी शील-स्वभाव मिलाइये, करीब-करीब इनके सभी उपन्यासों में एक ही ढर्रे पर चलता हुआ पाइयेगा। 'सेवासदन' में मदनसिंह पहले तो 'शान्ता' को ग्रहण करना पाप समझते हैं, उसके कारण अपने बेटे तक से असहयोग कर लेते हैं, लेकिन अन्त में सन्तानप्रेम-द्वारा पराजित हो जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में प्रभाशंकर की "प्रतिज्ञा तो थी कि जीते जी उसका (दयाशंकर का) मुँह न देखूँगा ('प्रेमाश्रम'—पृ० ५६६)" किन्तु उसके पास पहुँचते ही मन इतना व्याकुल हो उठा कि "हाय बेटा! कहकर उसकी (दयाशंकर की) छाती से चिमट गये ('प्रेमाश्रम'—पृ० ६०८)।" 'कायाकल्प' में मुँशी वज्रधर पहले तो चक्रधर से दृढ़तापूर्वक कहते हैं—"अहल्या मेरी कुलदेवी नहीं हो सकती, चाहे इसके लिए मुझे पुत्र-वियोग ही सहना पड़े ('कायाकल्प'—पृ० ३३१)।" लेकिन उसी 'अहल्या' के साथ, उनकी इच्छा के विरुद्ध, जब 'चक्रधर' ब्याह कर लेता है और उसे लेकर घर लौटता है तो "मुन्शी जी दौड़-

कर उसे छाती से लगा" लेते हैं और "स्नेह-कोमल शब्दों में" कहते हैं—"कम-से-कम एक तार तो दे देते कि मैं इस गाड़ी से आ रहा हूँ। खत तक न लिखा। यहाँ बराबर दस दिनों से दो बार स्टेशन पर दौड़ा आता हूँ और एक आदमी हर वक्त तुम्हारे इंतजार में बिठाये रहता हूँ कि न जाने किस गाड़ी से आ जाओ। कहाँ है वह? चलो उतार लावें' ('कायाकल्प'—पृ० ३५४)।" 'कर्मभूमि' में अमर के पिता समरकान्त भी पहले इसी प्रकार बेटे से तन जाते हैं, अन्त में झुक जाते हैं।

'प्रेमाश्रम' के 'प्रेमशंकर', थोड़ा-सा बदलकर, 'कायाकल्प' में 'चक्रधर' बना दिये गये हैं और 'कर्मभूमि' में 'अमरकान्त'। 'प्रेमाश्रम' के कादिर मियाँ की मुसलमानी हमें उतनी ही प्यारी लगती है जितनी 'कायाकल्प' के ख्वाजा महमूद की। 'कायाकल्प' के ख्वाजा महमूद तथा बाबू यशोदानन्दन की दोस्ती और 'कर्मभूमि' के सलीम तथा 'अमर' की दोस्ती में क्या इतना अन्तर है कि हम उसे दो तरह की समझें? 'निर्मला' की 'भुङ्गी' और 'कर्मभूमि' की 'सिल्लो' के शील-स्वभाव में कोई भिन्नता है? स्त्री-स्वभाव का चित्रण भी इन्होंने सब जगह प्रायः एक ही ढर्रे पर किया है। 'कर्मभूमि' की 'सुखदा' के स्वभाव में वही तीक्ष्णता है जो 'रंगभूमि' की 'इन्दु', 'प्रतिज्ञा' की 'सुमित्रा' और 'निर्मला' की 'कल्याणी' के स्वभाव में—कम-से-कम अपने-अपने पति के साथ तो इनके बातचीत, रोष-मान, प्रेम-कलह आदि के रूप एक ही-से हैं।

इस प्रकार की चरित्र-परम्परा ने इनके असाधारण पात्रों और साधारण पात्रों के चरित्र-चित्रण की प्रणाली अलग-अलग कर दी है। इनके जो पात्र असाधारण गुण-दोषवाले हैं उनके स्वभाव को एक निर्धारित सीमा के भीतर ही रहना पड़ता है और जो साधारण वर्ग के हैं उनके स्वभाव की विकास-धारा में निस्सीम गति है—उनके स्वभाव-चित्र कई जगहों पर नाचते हुए, कई रूपों में कई प्रकार के रंगों से रँगकर, हमारे सामने आते हैं। प्रेमशंकर, विनय, सूर, चक्रधर, अमर, शान्तिकुमार, ज्ञानशंकर, जॉनसेवक, माहिर अली, कादिर खाँ, ख्वाजा महमूद, सोफिया, रानी जाह्नवी, मनोरमा आदि अत्यन्त उच्च या अत्यन्त नीच विचारवाले स्त्री-पुरुषों के चरित्र-चित्रण में कुछ बँधे-बँधाये उपकरणों से ही काम लिये गये हैं। किन्तु लाला प्रभाशंकर, कुँवर भरत सिंह, मुंशी वज्रधर, लाला समरकान्त, होरी, सलीम, सिल्लो, लोंगी, सुखदा, सुमन, धनिया आदि साधारण वर्ग की नर-नारियों के चरित्र का विकास बराबर आप ही आप—बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के—होता गया है। इसीसे, प्रेमचन्द्जी के जो पात्र जितने ही कम असाधारण हैं वे उतने ही अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक हैं।

पात्रों के चरित्र का प्रभाव

इनके उपन्यासों के पात्र, चाहे वे साधारण वर्ग के हों या असाधारण वर्ग के, अपने चरित्र का जो प्रभाव पाठकों के मन पर छोड़ जाते हैं वे जितने ही सुदृढ़ होते हैं उतने ही स्थायी भी। उनके चरित्र के गुण-दोष हमारे अपने चरित्र

तो वहाँ मालूम होने लगती है जहाँ श्रम और गंभीरता से काम लेने की आवश्यकता आ पड़ती है। बातचीत में सुविधा भी मिलती है, रस भी मिलता है। विवरण चाहे कितना ही रसात्मक हो, कुछ-न-कुछ श्रमसाध्य-सा अवश्य प्रतीत होता है। रोचक-से-रोचक विवरण भी हमारे औत्सुक्य तथा आनन्द को रोकता हुआ चलता है, मनोरंजक वार्त्तालाप में उन्हें उभारते चलने की शक्ति रहती है। एक के साथ हमारे मन को सम्हल-सम्हलकर चलना पड़ता है, दूसरे के साथ वह सरल गति से हँसता-खेलता हुआ चला चलता है। प्रेमचन्दजी उपन्यास-पाठकों की इस मानसिक अवस्था से पूर्ण परिचित हैं। इसीसे, इनके उपन्यासों में विवरण के अंश कम रहते हैं, वार्त्तालाप के अंश अधिक।

इनके उपन्यासों में कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य पात्रों के चरित्र की मनोरंजक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना ही होता है। घटना को प्रगतिशील बनाने या उसके स्वरूप को बदल देने का काम पात्रों की मनोवृत्ति स्वयं कर लेती है, उनके कथोपकथन से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। इनके पात्रों का पारस्परिक वार्त्तालाप अधिकतर वहीं किसी प्रकार की नवीन घटना या स्थिति का सृजन कर सकता है जहाँ वह उनके (पात्रों के) किसी प्रकार के स्वाभाविक भावावेश को उत्तेजित करने का अवसर पा जाता है। इसके अतिरिक्त, और-और स्थलों पर, या तो उसका सीधा सम्बन्ध वस्तु-विज्ञान के साथ रहता ही नहीं, या थोड़ा-बहुत रहता भी है तो

केवल इसी नाते कि वह पात्रों की मनोवृत्ति को प्रभावित कर सकता है। 'सेवासदन' में 'सुमन' और उसके स्वामी 'गजाधर' की बातचीत उनके स्थिति-परिवर्त्तन के साथ परोक्ष सम्बन्ध भी रखती है और अपरोक्ष भी। वह बातचीत जहाँ 'गजाधर' के रोष को उभारती है वहाँ 'सुमन' की मनोवृत्ति पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। "जाती है कि खड़ी गालियाँ देती है?" पति के मुँह से इतना सुनते ही वह (सुमन) बोल उठती है "अच्छा लो, जाती हूं।" 'गजाधर' अपने रोष के आवेग को नहीं रोक सकता, और इसीसे, जब वह "दरवाजे के तरफ एक कदम" बढ़ाती है तब वह कह देता है "अपने गहने कपड़े लेती जा, यहां कोई काम नहीं है।" यही वाक्य सुमन के "टिमटिमाते हुए आशा रूपी दीपक को बुझा" देता है; वह घर से निकल जाती है ('सेवासदन'—पृ० ४७)! इसी वार्त्तालाप के परिणाम-स्वरूप 'सुमन' और 'गजाधर' दोनों की जीवन-स्थिति सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेती है। 'निर्मला' में 'उदयभानु' तथा उनकी स्त्री 'कल्याणी' का वार्त्तालाप भी इसी प्रकार का है—

उदयभानु—तो मैं क्या तुम्हारा गुलाम हूं!

कल्याणी—तो क्या मैं तुम्हारी लौंडी हूं?

उदय०—ऐसे मर्द और होंगे जो औरतों के इशारों पर नाचते हैं।

कल्या०—तो ऐसी स्त्रियाँ भी और होंगी जो मर्दों की जूतियाँ सहा करती हैं ('निर्मला'—पृ० १७)।

के आगे उपस्थित होना पड़ता है। उनका अन्यायपूर्ण दुराग्रह देखकर वह वहाँ भी "तेवर बदल कर" बोलता है—"दादा ? इस दरबार से अब दया-धरम उठ गया। चलो, भगवान की जो इच्छा होगी वह होगा। जिसने मुँह चीरा है, वह खाने को भी देगा ('प्रेमाश्रम'—पृ० २७)।" जमींदार का रोष बढ़ जाता है, लखनपुर वालों पर "इजाफा लगान का दावा" करने की बात यहीं से उठ खड़ी होती है—उपन्यास की मुख्य घटना—धारा यहीं से पूरे वेग के साथ चल पड़ती है। साथ ही इसी जगह घटना से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख पात्रों की मनोवृत्ति का भी हमें थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

अपने सभी उपन्यासों में कथोपकथन के उद्देश्य की रक्षा और पूर्ति ये इसी रूप में करते चलते हैं। घटना को आगे बढ़ाने में वह सहायता प्रदान करे या न करे, पात्रों की प्रवृत्ति का साथ कभी न छोड़े—इस पर इनका ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसीसे इनके पात्रों की बातचीत मनोवैज्ञानिक रोचकता के अभाव से बची रहती है। इनकी उपन्यास-कला के इस तत्त्व (कथोपकथन) का महत्त्व भी इसी बात में है कि इसके द्वारा हम पात्रों के अन्तस्तल का पूर्ण पर्य्यवेक्षण कर सकते हैं, उनके भीतरी जगत की भली-बुरी बातें जान सकते हैं। यह इनकी कथा को ही चटकीला नहीं बनाता, इस बात का भी विश्वास दिलाता है कि इसका (कथोपकथन का) कौशल-पूर्ण प्रयोग ही इनकी उपन्यास-कला का सबसे बड़ा सौन्दर्य्य है।

अरोचक हैं। 'प्रेमाश्रम' में तो इस प्रकार के लम्बे-चौड़े भाषण और वाद-विवाद इतने अधिक आ गये हैं कि उनसे जी ऊब उठता है। 'इत्तहादी यतीमखाना' वाले सैयद ईजाद हुसैन जैसे स्वयं उपन्यास के लिए सर्वथा अनावश्यक हैं वैसे ही उनकी वक्तृता और बातचीत भी किसी प्रकार की औपन्यासिक रोचकता या विशेषता से कोई सम्बन्ध नहीं रखती—किसी काम की नहीं मालूम पड़ती। 'गोदान' में भी बात-चीत के रूप में बहुत-सी वक्तृताएँ कराई गई हैं जिनमें, स्वभावतः, औपन्यासिक रोचकता का पूरा-पूरा अभाव दीख पड़ता है।

किसी भी उपन्यास में वक्तृता और वाद-विवाद के बिना प्रेम-चन्दजी का काम नहीं चलता। इसलिए, इनके प्रायः सभी उपन्यासों में इस प्रकार की थोड़ी-बहुत अरोचकता का भी समावेश हो ही जाता है, पर उसमें अस्वाभाविकता नहीं रहती।

जहाँ कथोपकथन-द्वारा सूखे सिद्धान्तों का प्रतिपादन या किसी मत विशेष का प्रचार नहीं कराया जाता, केवल पात्रों का चरित्र-चित्रण ही किया जाता है, वहाँ सरसता और रोचकता का अभाव नहीं रहता। विभिन्न वर्ग, स्थिति और प्रकृति के लोगों की भिन्न-भिन्न भावनाओं को उन्हीं के सुलझे हुए शब्दों में अभिव्यक्त कर देना और उसी अभिव्यक्ति के आलोक में उनके शील-स्वभाव से हमारी पूरी जान-पहचान करवा देना, प्रेमचन्दजी की कला का एक सहज सुन्दर कर्म है। हमारे समाज में जितने प्रकार के लोग रहते हैं, प्रायः उन सब के स्वभाव और आचार-व्यवहार से ये परिचित हैं।

बजरंगी—मारपीट से नन्हा-सा लड़का तो बस में आता ही नहीं, औरत क्या बस में आयेगी।

भैरो—बस में तो आये औरत का बाप, औरत किस खेत की मूली है। मार से भूत भागता है।

बजरंगी—तो औरत भी भाग जायगी, लेकिन काबू में न आयेगी।

नायक—बहुत अच्छी कही बजरंगी, बहुत पक्की कही, वाह! वाह!! मार से भूत भागता है तो औरत भी भाग जायगी। अब तो कट गई तुम्हारी बात?

भैरो—बात क्या कट जायगी, दिल्लगी है? चूने को जितना ही कूटो, उतना ही चिमटता है।

नायक—क्यों बजरंगी, नहीं है कोई जबाब?

('रंगभूमि'—पृ० १६४)

प्रेमचन्दजी का यह 'नायकराम', परिहासात्मक अभिरुचि और आनन्द के नाते, इतना बढ़िया वार्त्तालाप करता है कि कहीं-कहीं रोकने पर भी हँसी नहीं रुकती। और, हमारी यह हँसी, यह प्रसन्नता, उसकी मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखती है।

प्रेमचन्दजी के बनाये हुए गँवार नौकर-चाकर किस स्वाभाविक ढंग से बातें करते हैं, वह भी सुन लीजिये—

कहार—सरकार, इतना की नौकरी हमार कीन न होई। कहाँ तलक उधार बाढ़ी ले ले खाईं। माँगत-माँगत थेथर होय गएन।

बच्चों के साथ बूढ़े भी बच्चे ही बन जाते हैं। शिशुओं के प्रश्न तो बच्चों के प्रश्न हैं ही, सूरदास के उत्तर भी ठीक वैसे ही हैं—किन्तु, वात्सल्य-रस में डूबे हुए, स्वाभाविक स्नेह से सने हुए! प्रश्न बच्चे का प्यारा भोलापन प्रदर्शित करनेवाले हैं, और उत्तर बूढ़े का प्यार!

पति-पत्नी के पारस्परिक संभाषण में प्रेम और मान के कैसे-कैसे कोमल उपकरण भरे रहते हैं, यह देखना हो तो इस बातचीत में देखिये—

रमा०—आखिर, कुछ मालूम भी तो हो, क्या बात हुई?

जालपा—बात कुछ नहीं हुई। अपना जी है। यहाँ नहीं रहना चाहती।

रमा०—तुम्हें मेरी कसम जो इस वक्त जाने का नाम लो।

जालपा ने इसके उत्तर में कहने को तो कह दिया "तुम्हारी कसम की हमें कुछ परवा नहीं है" परन्तु, उस 'कसम' की अवज्ञा वह न कर सकी। "बिस्तर के पैताने पर बैठ गई और बोली—तुमने मुझे कसम क्यों दिलाई ?"

रमा०—इसके सिवा मेरे पास तुम्हें रोकने का और क्या साधन था ?

जालपा—क्या तुम चाहते हो कि मैं यहीं घुट-घुट कर मर जाऊँ ?

प्रेयसी के मुँह से मरने की बात सुनकर रमानाथ के कलेजे में एक चोट-सी लगती है और वह करुण स्वर में कहता है—"तुम ऐसे मनहूस शब्द क्यों मुँह से निकालती हो ? मैं तो चलने को तैयार हूँ। न मानोगी तो पहुँचाना ही पड़ेगा···('गबन'—पृ० ४१)।"

इतना ही बहुत था। बुझती हुई आग में पानी पड़ गया। कसम ने आग बुझाई और और इस आत्मसमर्पण ने पानी का काम किया। देखते ही देखते जालपा के बिस्तर खुल गये! वह नहीं जा सकी।

लगे हाथ यह भी देख लीजिए कि सपत्नियों की कलह-प्रियता का चित्र प्रेमचन्दजी कितनी सुन्दरता से खींचते हैं—

वसुमती—हाँड़ियाँ चढ़ावें मेरे दुश्मन, जिनकी छाती फटती हो, मैं क्यों हाँड़ी चढ़ाऊँ। उत्सव मनाने की बड़ी साध है तो नये बासन क्यों नहीं मँगवा लेतीं। अपने कृष्ण से कह दें, गाड़ी भर बासन भेज दें। क्या जबरदस्ती दूसरों को भूखों मारेंगी ?

रोहिणी—जरा मुँह सम्हालकर बातें करो। देवताओं का अपमान करना अच्छा नहीं।

वसुमती—अपमान तो तुम करती हो जो व्रत के दिन यों बन-ठनकर अठलाती फिरती हो।

रोहिणी—मैं बनती-ठनती हूँ तो दूसरों की आँखें क्यों फूटती हैं।

वसुमती—तो और बनो-ठनो, मेरे अँगूठे से...।

('कायाकल्प'—पृ० ११८)

व्यवसाय-बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली व्यावहारिक शिष्टता के बहाने मोहक वाग्जाल बिछाकर गाहकों को फँसानेवाले कुशल व्यापारियों की मनोवृत्ति का परिचय हमें गंगू की इन बातों से मिल जाता है—"आइए बाबू जी, ऊपर आइए। बड़ी दया की! मुनीम जी, आपके वास्ते पान मँगवाओ। क्या हुक्म है बाबूजी, आप तो जैसे मुझसे नाराज हैं। कभी आते ही नहीं। गरीबों पर भी कभी-कभी दया किया कीजिए ('गबन'—पृ० ७६)।"

उसके इस शाब्दिक सत्कार के उत्तर में जब रामनाथ कहता है "यहाँ हम ऐसे मजदूरों का कहाँ गुजर...। गाँठ में कुछ हो भी तो'! तब हमें यह भी पता चल जाता है कि उधार खानेवाले गाहक अपने मतलब की बात किस तरह शुरू करते हैं।

जिस प्रकृति के पात्रों को जिस ढंग से बातें करनी चाहिये, प्रेमचन्दजी उनके मुँह से ठीक उसी प्रकार के शब्द निकलवाते हैं।

साकार की बातें भरकारों से भरी पड़ी रहती हैं, मगर फिर भी भाषा सफाई से। किसी साधारण बातचीत में भी अपना ढंग नहीं छिपा सकता, शांत प्रकृति वाले शब्दों की जगह गालियों का प्रयोग करा कर देते हैं। इनके जो पात्र किसी 'तकियाकलाम' के बिना नहीं बोल सकते उनके लिए इसका भी प्रबन्ध ये कर देते हैं। 'रंगभूमि' के मि० ईश्वरसेवक बात-बात पर कहते हैं "ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा"; 'कायाकल्प' के मुन्शी वज्रधर जब चाहते हैं तभी अपनी 'पुरानी तहसीलदारी' का हवाला पेश कर देते, 'गबन' में भी एक इन्सपेक्टर साहब हैं जो "हलफ से कहता हूँ" कहे बिना एक वाक्य भी पूरा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त, ये इस बात को भी कभी नहीं भूलते कि जो पात्र जिस प्रकार की भाषा में स्वाभाविक ढंग से बोल सकते हों उनसे उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। इस बात का ये बराबर ध्यान रखते हैं कि जो जिस शब्द का जिस ढंग से उच्चारण कर सकते हों उन्हें उसका उच्चारण वैसे ही करने देना चाहिए। इनके अँग्रेजी पढ़े-लिखे पात्र हिन्दी के साथ, बीच-बीच में अँग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते चलते हैं, इनके बंगाली पात्रों की भाषा का रूप है "आपसे बड़ा भारी 'ब्लंडर' हुआ है × × जज भी कायदा को तोड़ दिया। × × फिर से मोकदमा की पेशी करेगा। × × अब इसमें कोई 'डाउट' नहीं है और यह सब आपका 'बंगलिंग' है…('गबन'—पृ० ४१५)।"
इनके मुसलमान पात्र बराबर उर्दू में बातचीत करते हैं; अपढ़ पात्र

'धर्म' को 'धरम' और 'शास्त्रार्थ' को 'सासतरारथ' कहते हैं; देहाती पात्र ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करते हैं और छोटे-छोटे बच्चे तुतलाते हैं। सारांश यह कि कथोपकथन को अस्वाभाविकता, अवास्तविकता और अनुपयुक्तता से बचाने के लिए वे उसके समस्त आवश्यक उपकरणों से काम लेते हैं।

रस-संचार की शक्ति और उसका उपयोग

एक बात और। इनके पात्रों की बातचीत में रस-संचार करने की शक्ति भरी रहती है। प्रसंगानुकूल होने के कारण, वे उखड़ी हुई और निर्जीव-सी नहीं होतीं। अपनी सजीवता और सरसता के बल पर वे पाठकों के मन में जाकर बस ही नहीं जातीं, उसे रस से भर भी देती हैं। दो सखियों की बातचीत सुनिये :—

सोफ़िया—(वे) आप की धार्मिक स्वाधीनता में तो बाधा नहीं डालते?

इन्दु—नहीं, इन्हें इतना अवकाश कहाँ है?

सोफ़िया—तब तो मैं आपको मुबारकबाद दूँगी।

इन्दु—अगर किसी कैदी को बधाई देना उचित हो, तो शौक से दो।

सोफ़िया—बेड़ी प्रेम की हो तो!

इन्दु—ऐसा होता, तो मैं स्वयं तुमसे बधाई देने का आग्रह करती। मैं बँध गई, वह मुक्त हैं।... उन्हें सब कामों के लिए फ़ुर्सत है। अगर फ़ुर्सत नहीं है तो सिर्फ़ यहाँ आने की। मैं तुम्हें चिताये देती हूँ, किसी देश-सेवक से विवाह न करना। ('रंगभूमि'—पृ० ६२, ६३)।

इन शब्दों से इन्दु के अन्तस्तल की गंभीर वेदना फूटी पड़ती है और उसका प्रभाव पाठकों के हृदय पर भी पड़े बिना नहीं रहता। यहाँ भी करुणा और सहानुभूति की रस-धारा आप से आप बहने लगती है।

× × × ×

इन्द्रदत्त—सूरदास! हमलोग तुम जैसे गरीबों से चन्दे नहीं लेते। हमारे दाता धनी लोग हैं।

सूर०—भैया, तुम न लोगे, तो कोई चोर ले जायगा। मेरे ऊपर इतनी दया करो।

इन्द्रदत्त—अगर देना ही चाहते हो तो कोई कुआँ खुदवा दो। बहुत दिनों तक तुम्हारा नाम रहेगा।

सूर०—भैया, मुझे नाम की भूख नहीं है। बहाने मत करो, ये रुपये लेकर अपनी संगत में दे दो। मेरे सिर से बोझ टल जायगा।

('रंगभूमि'—पृ० ६२६)

बातचीत बहुत ही साधारण है, किन्तु इसके भीतर जो भाव सन्निहित हैं वे कितने असाधारण, कितने अलौकिक, कितने उज्ज्वल हैं! असहाय अन्धे की यह निर्मल निस्पृहता, अर्थ-वैराग्य की यह अनुपम भावना, लोक-हित की यह मधुर कामना, किसके हृदय को अपनी प्रभाव-सीमा के भीतर नहीं खींच लाती? किसके भीतर एक निर्मल भावधारा की सृष्टि नहीं कर देती?

× × ×

हरिसेवक—सच ? यह तुमने क्या किया। लौंगी कभी न आयेगी।

मनोरमा—आयेगी क्यों नहीं ! न आयगी तो मैं जाऊँगी।

हरिसेवक—तुम जाओगी ! रानी मनोरमा लौंगी कहारिन को मनाने जायेगी !

मनोरमा—मनोरमा लौंगी कहारिन का दूध पीकर बड़ी न होती तो आज 'रानी मनोरमा' कैसे होती ? ('कायाकल्प'—४६२)

मनोरमा की ये बातें सुनकर हरिसेवक का ही "मुरझाया हुआ चेहरा" नहीं खिल उठता, पाठकों का हृदय भी एक प्रकार के आह्लाद से भर जाता है।

इनके उपन्यासों में कथोपकथन की सब से बड़ी बात यह है कि वह जिस भाव या रस से सम्बन्ध रखता है उसका संचार वह पात्रों के हृदय में भी करता चलता है और पाठकों के हृदय में भी। व्यंग्यपूर्ण बातें सुनकर हम फड़क उठते हैं, विनोद की बातों से हमें गुदगुदी लगती है। प्रेम, करुणा, त्याग आदि के भावों की अभिव्यक्ति हममें कोमल और करुण भावनाओं की सृष्टि करती है और, घृणा, द्वेष, दम्भ, स्वार्थ आदि के भावों की अभिव्यक्ति बुरी भावनाओं की ओर से हमारा मन दूर हटा देती है।

कथोपकथन की इस रस-संचारिणी शक्ति का उपयोग ये केवल पात्रों की ही मनोवृत्ति को बदलने के उद्देश्य से करते हैं, किन्तु, इस

कौशल के साथ कि वह पाठकों के अन्तस्तल को भी छूती चले जहाँ कहीं इन्हें किसी पात्र के स्वभाव, सिद्धान्त या कार्यकलाप में किसी प्रकार का परिवर्त्तन उपस्थित करना होता है वहाँ ये उसके साथ की जानेवाली बातचीत के भीतर मन्द गति से बहती हुई रस-धारा को तीव्र कर देते हैं। बातें साधारण ही होती हैं, पर हृदय पर गहरी चोट करने वाली।

सुखदा—आपने शादी क्यों नहीं की डॉक्टर साहब ?

शांतिकुमार—इसीलिए कि विवाह करके किसी को सुखी नहीं देखा।

सुखदा—परीक्षा करके देखा तो होता। आप तो दूर ही से डर गये।

शांतिकुमार—अब अगर चाहूँ भी, तो बूढ़ों को कौन पूछता है।

(कर्मभूमि'—पृ० २२८)

इस साधारण-सी बातचीत ने संयमी 'शांतिकुमार' का मानसिक संयम नष्ट कर दिया। वे भीतर-ही-भीतर अपने प्यारे शिष्य और मित्र अमरकान्त की बहन 'नैना' को चाहने लगे, वह उस समय वहीं थी। "ईश्वर वह दिन लाये कि मैं इस घर में भाभी के दर्शन करूँ" कहकर सुखदा चली गई, नैना भी चली गई ! पर डाक्टर शांतिकुमार का "यौवन जाग उठा" और उन्हें मालूम होने लगा कि अब भी "नैना लल्लू को गोद में लिये जैसे उनके सम्मुख खड़ी थी ('कर्मभूमि'—पृ० ३०१) !" भीतर-ही-भीतर प्रेम-दाह

देश-काल का प्रतिबिम्ब

प्रेमचन्दजी के उपन्यास या तो सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं या राष्ट्र की चलती हुई राजनीतिक समस्याओं से।

समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गों तथा स्वरूपों का विश्लेषण

किन्तु समाज या राष्ट्र के किसी एक ही अंश को पकड़कर वे नहीं चलते; उसके भिन्न-भिन्न अंगों तथा स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए वे देश-काल का जो मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं उसमें इतिहास की सचाई भी रहती है और कला की सुन्दरता भी। हमारे घरेलू तथा सार्वजनिक जीवन के जितने भी अंग हैं, हमारे जीवन-व्यापार के जितने भी क्षेत्र हैं, हमें अपने कार्य-क्षेत्र में जिन-जिन परिस्थितियों

उपन्यासकारों की रचनाएँ क्या रूस की राज्य-क्रान्ति का चित्र उपस्थित नहीं करतीं ? और ऐसा करने के कारण क्या अँग्रेज, फ्रांसीसी तथा रूसी कलाकारों की कृतियाँ महत्त्व-हीन समझी जाती हैं ? आजकल की दुनिया में और जितने कलाकार हैं आखिर वे किन अपार्थिव समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं ? उनकी रचनाओं में उनके देश-काल से सम्बन्ध रखनेवाली बातें नहीं रहतीं क्या ? फिर केवल प्रेमचन्दजी ही इसके लिए क्यों अपराधी ठहराये जाएँ ?

साहित्य में सामयिकता के लिए सदैव थोड़ा-बहुत स्थान सुरक्षित रहता है, क्योंकि वह उसी समाज का प्रतिबिंब होता है जिसमें उसके कर्त्ता की काया पली है। उसके समय में उसका समाज जिस रूप में रहता है, अपनी रचनाओं में उसको उसी रूप में अभिव्यक्त करना उसका एक बड़ा भारी नैतिक दायित्व है। ऐसा करके वह अपने पाठकों को वस्तु-स्थिति का सच्चा ज्ञान प्राप्त कराता है, जनता की कर्त्तव्य-भावना को उत्तेजित करता है। प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में सामयिक प्रश्नों पर बहुत अधिक प्रकाश इसलिए डालते हैं कि इनके पाठक अपने समय की वास्तविक स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन कर सकें। फिर भी यही इनके उपन्यासों का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। जिन समस्याओं को लेकर ये अपनी उपन्यास-कल का निर्माण करते हैं वे सामयिक अवश्य होती हैं, किन्तु कला के स्थायित्व प्रदान करनेवाली बातें भी उनमें भरी रहती हैं। उनक आवरण आगे चलकर भले ही बदल जाय, उनके मूल तत्त्वों का ह

नहीं सकता, क्योंकि इसी ने इन्हें सच्चा कलाकार बनाया है। जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की समस्याओं के साथ इनकी कला का सम्बन्ध इतना पुष्ट है कि हमें इनकी रचनाओं के स्थायित्व पर किसी प्रकार की आशंका करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। बाहरी समस्याएँ चाहे रहें या चली जायँ, भीतरी समस्याओं का महत्त्व कभी कम न होगा। और, जब तक भीतरी समस्याओं का महत्त्व-पूर्ण अस्तित्व बना रहेगा, तबतक इनके साहित्य के महत्त्व पर किसी प्रकार का न्यायसंगत आक्रमण नहीं किया जा सकता।

एक बात और। इनका साहित्य आगे चलकर हमारे युग के इतिहास का भी काम करेगा। हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय अवस्थाओं के स्वरूप-परिवर्त्तन की जो चेष्टाएँ की जा रही हैं उनसे हमारे जातीय इतिहास का भी स्वरूप बदल जायगा और आनेवाली पीढ़ी के लोग इन्हीं प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि उपन्यासों के द्वारा हमारे युग की मूल-प्रवृत्तियों का सच्चा परिचय प्राप्त करेंगे। यह संभावना भी इनकी कला के स्थायित्व का एक आधार है, और यह आधार इतना अबल नहीं है कि उपेक्षा के धक्कों से टूट जाय। सामयिक भावों से भरा हुआ होकर भी इनका साहित्य अमर है, क्योंकि उसकी उपादेयता का सम्बन्ध केवल हमारे वर्त्तमान से ही नहीं, भविष्य से भी जुड़ा हुआ है। हमारा आज का संघर्षपूर्ण 'वर्त्तमान' हमारे आनेवाले कल का गौरवपूर्ण 'अतीत' बन जायगा और उसी के साथ-साथ आज की अपेक्षा और भी अधिक गौरवपूर्ण बन जायगा

हमारे 'आज' से सम्बन्ध रखनेवाला हमारा साहित्य। अतएव, प्रेमचन्दजी की कला का एक निजी ऐतिहासिक महत्त्व है। इस महत्त्व का अनुभव अभी हम भले ही न करें, आगे चलकर, हमारे पीछे आनेवाले लोग अवश्य करेंगे।

काल-दोष

अपने उपन्यासों में इन्होंने देश काल का जो प्रतिबिम्ब उतारा है उन पर कहीं-कहीं काल-दोष की छाया भी आ पड़ी है। रानी 'देवप्रिया' तथा उनके जन्म जन्मान्तर के 'जीवन-स्वामी' की बातें इतनी अद्भुत और अलौकिक हैं कि इन्होंने समूचे 'कायाकल्प' को काल-दोष का मंजूषा बना दिया है। "तिब्बत की तपोभूमि में आज भी ऐसी महान् आत्माएँ हैं जो माया का रहस्य खोल सकती हैं ('कायाकल्प'—पृ०६५)" इस बात की सचाई का पता आजकल के "जिज्ञासा की सच्ची लगन" रखनेवाले भी लगा सकेंगे या नहीं, यह विचारने का विषय है। हर्षपुर की 'रानी कमला' को देखते 'शंखधर' अपने पूर्वजन्म की बातें बताने लगता है ('कायाकल्प--पृ० ५६२)। उसकी यह अद्भुत क्षमता देखकर हम सोचने लगते हैं कि क्या यह हमारे समय का आदमी है? ऐसे लोग क्या आजकल भी मिलते हैं! यह तो एक आध्यात्मिक उद्भावना से सम्बन्ध रखनेवाला काल-दोष हुआ। इनके अतिरिक्त और-और प्रकार के काल-दोष भी इनके उपन्यासों में पाये जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में लखनपुर वाले मामले की बात लीजिए। अदालत के सामने बिसेसर साह और डाक्टर प्रियानाथ ने पहले कुछ कहा था, पीछे कुछ और कहा। किन्तु, इस

प्रकार 'बयान' बदलने के अपराध में अदालत ने उन्हें कुछ नहीं कहा; उनकी कही हुई नई बातों को चुपचाप मान लिया और पुरानी को काट दिया ! 'कर्मभूमि' में भी इन्होंने एक जगह ऐसा ही किया है। 'मुन्नी' को अपवित्र करनेवाले जिन गोरों को इतनी मार लगी कि उन्हें ढोकर ले चलने के लिए बैलगाड़ी की आवश्यकता आ पड़ी, उन्हीं को उन लोगों (अमर, सलीम और अर्जुन)ने "वहीं पुलीस के चार्ज में छोड़ दिया और आप डाक्टर साहब (शांतिकुमार) के साथ गाड़ी पर बैठकर घर चले ('कर्मभूमि'—पृ० ३५)।" आजकल की 'पुलीस' ने ऐसी स्थिति में उन्हें चुपचाप जाने कैसे दिया, यह बात समझ में नहीं आती ! 'गोरों' पर घातक हाथ छोड़नेवाले 'काले' इतने सस्ते छूट जायँ यह तो आजकल की-सी बात नहीं मालूम पड़ती ? इसी उपन्यासों में इन्हों ने 'सलीम' को बिना इँगलैंड भेजे ही ज्वायंट मैजिस्ट्रेट बना दिया है, और इसकी सफ़ाई इस तरह दी है कि "जब सूबे का सबसे बड़ा डाक्टर कह रहा है कि इँगलंड की ठण्ढी हवा में इस युवक का दो साल रहना खतरे से खाली नहीं, तो फिर कौन इतनी बड़ी जिम्मेदारी लेता ('कर्मभूमि'-पृ० ३१६) ?" पर यहाँ विचारने की बात यह है कि जिसका स्वास्थ्य इतना संशयात्मक था, उसे आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की आज्ञा कैसे मिल गई ? और, अगर उसका स्वास्थ्य परीक्षा के बाद झूठ-मूठ संशयात्मक बना लिया गया था, तो सरकार ने उस पर सहसा विश्वास कैसे कर लिया ! आई० सी० एस० वालों के लिए बहाने इतने सस्ते नहीं हुआ करते, वे इतनी आसानी से मैजिस्ट्रेट

भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना

प्रेमचन्दजी की भाषा में हिन्दी और उर्दू दोनों ही के शब्द मिले रहते हैं, इसलिए वह बहुत ही चलती हुई होती है। ये न तो उसे सजाने के लिए कभी किसी प्रकार की कृत्रिमता से काम लेते हैं, न उसके प्रवाह पर किसी प्रकार का अस्वाभाविक नियंत्रण रखते हैं। लोग आपस में साधारणतः जिस ढंग से बातचीत करते हैं, वही ढंग इनके लिखने का है। और, वह ढंग ऐसा है जिसमें कहीं-कहीं अँग्रेजी के भी शब्द आ मिलते हैं। "अमृतराय स्पीच सुनने में तल्लीन थे" ('प्रतिज्ञा'—पृ० १), "पुलीस के चार्ज में छोड़ दिया" ('कर्मभूमि'—पृ० ३५), "Vulgar शब्द ही इस आशय को व्यक्त कर सकता है ('रंगभूमि'—पृ० ५०४)" इस

भाषा की स्वाभाविकता

भावा को गढ़ते नहीं हैं, वह तो आप ही आप इनकी कलम से निकलती चलती है। देखिए—'गाड़ी चल दी, उस वक्त रमा को अपनी दशा पर रोना आ गया। हाय, न जाने उसे कभी लौटना नसीब भी होगा या नहीं। फिर यह सुख के दिन कहाँ मिलेंगे? यह दिन तो गये, हमेशा के लिए गये! इसी तरह सारी दुनिया में मुँह छिपाये, वह एक दिन मर जायगा। कोई उसकी लाश पर आँसू बहाने वाला भी न होगा। घरवाले भी रो-धोकर चुप हो रहेंगे ('गबन'—पृ० १७५)।"

× × × ×

के साथ 'खालिस उर्दू' बोलने को ललच उठते हैं? शांतिकुमार सलीम के साथ बातें कर रहे थे। अतएव, उस समय उनकी भाषा का यही रूप स्वाभाविक था। नहीं तो देखिये, यही महाशय सुखदा के साथ कितनी शुद्ध हिन्दी में बातें करते हैं—"पुरुष में थोड़ी-सी पशुता होती है। वही पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जायगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया, इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है। और यह स्त्रियों के गुण हैं ('कर्मभूमि'—पृ० २६८)।" सारांश यह कि इनकी भाषा की स्वाभाविकता का स्वरूप इनके पात्रों की व्यावहारिक स्थिति एवं उनकी मनोवृत्ति के अनुसार आपही आप बदलता रहता है।

इनकी भाषा की स्वाभाविकता का आधार है वस्तु, पात्र, और देश–काल के साथ उसका अटूट मेल। भाषा और विषय को मिलाये रखने की इनकी भावना इतनी प्रबल है कि पुस्तकों के नामकरण में भी ये इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके नाम उनकी समस्त कथा-वस्तु के परिज्ञापक हों। यही कारण है कि सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प आदि सुन्दर-सुन्दर हिन्दी नाम चुनने की क्षमता रखते हुए भी ये 'जालपा' और 'रमानाथ' की जीवन-कथा कहनेवाली पुस्तक का नाम 'ग़बन' छोड़कर और कुछ न रख सके। चाहते तो इसके बदले हिन्दी का कोई दूसरा नाम चुन सकते थे, पर

वस्तु, पात्र और देश-काल के साथ भाषा का मेल

वह ठीक इसलिए नहीं होता कि और कोई भी दूसरा नाम पुस्तक के विषय की व्याख्या इतनी तत्परता से नहीं कर सकता था। कथा-वस्तु का जैसा स्वरूप होगा, इनकी भाषा का स्वरूप भी वैसाही होगा। यही कारण है कि इनके सभी उपन्यासों की भाषा सर्वथा एकही-सी नहीं कही जा सकती। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' की भाषा में जो गंभीरता है, 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' में उसका स्थान चंचलता ने ले लिया है। 'रंगभूमि' के भाषा-गांभीर्य्य का संरक्षक है सूरदास का आध्यात्मिक-संग्राम, 'कर्मभूमि' की भाषा का अनुशासन करनेवाला है अमर का उग्र आदर्शवाद। 'कायाकल्प' की भाषा 'रानी देवप्रिया' के जन्म-जन्मान्तर से सम्बन्ध रखनेवाले रहस्यों की व्याख्या करती चलती है, 'ग़बन' की भाषा का काम है जीवन के साधारण स्थिति-चित्रों का चित्रण करना। 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' की भाषा जिस गंभीर वेदना को व्यक्त करनेवाली है, उसका अनुभव 'प्रेमाश्रम' की भाषा नहीं करा सकती। विचार-पद्धति एवं भाव-साहचर्य्य की भिन्नता के कारण 'गोदान' की भाषा-शैली में भी अनेकरूपता का सुन्दर समावेश है। जिस कथा-वस्तु के भीतर जितनी ही अधिक गंभीरता और कोमलता रहती है, उसकी व्यञ्जना ये उतनी ही गंभीर और कोमल भाषा में करते हैं। जहाँ उग्र भावों की व्यञ्जना करनी पड़ती है वहाँ इनकी भाषा आपसे आप ओजमयी हो उठती है। ओज, माधुर्य्य और प्रसाद ये तीनों ही गुण इनकी भाषा में सर्वत्र पाये जाते हैं।

पात्रों के स्वभाव के साथ तो इनकी भाषा का स्वभाव इतना मिला-जुला रहता है कि उनकी पारस्परिक सम्बन्ध-सीमा में अस्वाभाविकता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जैसा पात्र, उसकी वैसी ही भाषा। हिन्दू पात्रों की भाषा भिन्न होती है, मुसलमान पात्रों की भिन्न। बंगाली पात्रों की भाषा दूसरे ढंग की होती है, गाँव के अपढ़ किसानों और मजदूरों की दूसरे ढंग की। इनके हिन्दू पात्र प्रायः इस तरह की भाषा का प्रयोग करते हैं "महाराज! क्षमा कीजियेगा, मैं आप का सेवक हूँ, पर रानी जी का भी सेवक हूँ। उनका शत्रु नहीं हूँ। आप और वह दोनों सिंह और सिंहनी की भाँति लड़ रहे हैं। मैं गीदड़ की भाँति अपने स्वार्थ के लिए बीच में कूदना अपमानजनक समझता हूँ ('कायाकल्प'—पृ० ६६)।" मुसलमान पात्र इस तरह बोलते हैं—"जब से हुजूर तशरीफ़ ले गये मैंने भी नौकरी को सलाम किया। जिंदगी शिंकम—पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन कौम की खिदमत करूँ। इसी ग़रज से "अंजुमन इत्तहाद" खोल रक्खी है। उसका मक़सद हिन्दू-मुसलमानों में मेल-जोल पैदा करना है। मैं इसे कौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ। आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने कदमों से मुमताज फरमाएँ तो मेरी खुशनसीबी है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३५०)।" इनके गगुली बाबू की भाषा का स्वरूप होता है—"हम समझा था, अब आप निर्द्वन्द हो गया होगा। पर देखता है, तो वह बेड़ी ज्यों का त्यों आपका पैरों में पड़ा हुआ है

('रंगभूमि'—पृ० ६२८)।" जरा डिप्टी साहब की भाषा का भी नमूना देखिये—"अब क्या करने होगा खाँ साहब! चिड़िया हाथ से निकल गया ('ग़बन'—पृ० २६१)।" अपढ़ 'मतई' की भाषा की सादगी पर ध्यान दीजिये—"फिर ऐसा कौन है जो हम गरीबों का दुख दरद समझेगा। जो कहो नौकरी चली जायगी, तो नौकर तो हम सभी हैं। कोई सरकार का नौकर है कोई रईस का नौकर है ('कर्मभूमि'—पृ० ३५५)।" देहाती कहार की बातों में भाषा के बहार देखिये—"अरे सरकार, जो ई होत तो का पूछे का रहा मेहरिया अस गुनन की पूरी मिली है कि बात पीछू करत है, झा पहले चलावत है। जो सरकार, सुन भर पावे कि कौनो दुस मेहरिया से हँसत रहा, तो खड़े लील जाय सरकार, खड़े लील ज ('प्रतिज्ञा'—पृ० १५१)।" सारांश यह कि इनके जिस उपन्यास जितने प्रकार के पात्र रहते हैं उसमें उतने ही प्रकार के भाषा-स्व भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा की यह अनेक-रूपता 'प्रसाद' के उस अपरिवर्त्तनीय भाषा-स्वरूप की याद दिला देती है जो रह भावना से भरी हुई गंभीर शैली का साथ कभी छो ही नहीं।

यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होत वह बात यही है कि इनके उपन्यास में जहाँ मुसलमान पात्रों की का प्राधान्य आ जाता है वहाँ उर्दू न जाननेवाले पाठ कठिनाई का सामना करना पड़ता है और वे कथा के प्रवाह

प्रकार के अनिच्छित अवरोध का अनुभव करते हैं। 'शकम-पर्वरी', 'अंजुमन इत्तहाद,' 'अहम मसला' आदि शब्दों का बाहुल्य हिन्दी-उपन्यासों में किसी भी कारण से उचित नहीं समझा जाना चाहिए। हिन्दी की पुस्तकें, हिन्दी की निजी विशेषताएँ छोड़ देने को विवश की जायँ, यह ठीक नहीं। उनमें परायी भाषा के उन्हीं शब्दों का स्वागत किया जाना चाहिए जो अब हिन्दी के अंग बना लिये गये हैं और जिन्हें अन्यान्य भाषाओं का ज्ञान न रखने वाले हिन्दी-पाठक भी सुगमता से समझ सकते हैं। 'सेवासदन' में सैयद तेग अली और हकीम शोहरत ख़ाँ से ('सेवासदन' पृ० २८०) तथा 'प्रेमाश्रम' में सैयद इर्फ़ान अली से, और कहीं-कहीं सैयद इज़ाद हुसेन से भी जिस भाषा का प्रयोग कराया गया है वह हिन्दी-पुस्तकों की शोभा नहीं कही जा सकती और न 'कर्मभूमि' में आये हुए 'सदहा वारदातें', 'छटा हुआ गुर्गा', 'इनकलाब की सूरत', 'फ़र्ज़ी आदावत' 'मजहबी गरोहबन्दी' ('कर्मभूमि'—पृ० ४२५) आदि शब्दों से भरे हुए उर्दू के पदों को ही हिन्दी के पाठक पसन्द कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा करके प्रेमचन्दजी अपने मुसलमान पात्रों को अधिक अकृत्रिम बना देते हैं। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इनका यह प्रयास हिन्दी की निजी विशेषता तथा हिंदी पाठकों की औपन्यासिक अभिरुचि पर गहरा आघात पहुँचाता है। ''बाबूजी! मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ; ऐसी बात मुँह से न निकालिये। जब से आप आने-जाने लगे हैं, मेरे लिए दुनिया कुछ और हो गई है। मैं अपने दिल में एक ऐसी ताकत, ऐसी उमंग, पाती हूँ जिसे एक तरह का नशा कह सकती हूँ ('कर्मभूमि—पृ० १२१)''—मुसलमान पात्रों से जहाँ इस तरह की भाषा का प्रयोग कराया गया है, वहां वह हिन्दी की सगी

बहन-सी मालूम पड़ती है। किन्तु वहां तो यह हिन्दी की मौत-सी लगती है जहां उसका रूप हो गया है "नहीं जनाब, मेरी यह इल्तजा आपको कबूल करनी होगी। खुदा ने आपको एक दर्दमन्द दिल अता किया है। क्यों नहीं, आप लाला जटाशंकर मरहूम के खलफ हैं जिनकी गरीबपरवरी से सारा शहर मालामाल होता था। यतीम आपको दुआएं देंगे और अंजुमन हमेशा आपकी ममनून रहेगी।··· वल्लाह आप दोनों साहब बड़े जिन्दा दिल हैं। दुआ कीजिये कि खुदा मुझे भी केनाअत की दौलत अदा करे और मैं भी आपकी सोहबत से फैज उठाऊँ ('प्रेमाश्रम'—पृ० २५२)।"

स्वर्गीय पं० किशोरी लाल गोस्वामी जी ने भी अपने उपन्यास के मुसलमान पात्रों से प्रायः इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कराया है। पर इसे किसी भी अवस्था में हम इसलिए अच्छा नहीं समझते कि यह प्रणाली जहाँ एक ओर हिन्दी के स्वतंत्र विकास में बाधा डालनेवाली है वहाँ दूसरी ओर हिन्दी मात्र जाननेवाले पाठकों के औपन्यासिक आनन्द को भी यह छिन्न-भिन्न कर देती है। हिन्दी के उपन्यासों या नाटकों में मुसलमान पात्रों से भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग कराया जाना चाहिए जो हिन्दी ही-सी मालूम पड़े, जैसा कि स्वयं प्रेमचन्दजी ने कई स्थानों पर किया है।

देशकाल के साथ भी इसकी भाषा का पूरा-पूरा सामञ्जस्य रहता है। जहाँ, जिस समय, जैसी भाषा का प्रयोग उचित है वहाँ उस समय, ये वैसी ही भाषा से काम लेते हैं। औपन्यासिक स्थिति व

ध्यान जितना इन्हें रहता है, उतना ही इनकी भाषा को भी। वह उसे जहाँ जिस रूप में देखती है, वहाँ उसी अनुरूप अपने को भी बना लेती है। इनकी भाषा में अपनी गति को बदल देने की अद्भुत क्षमता है और उसकी इस क्षमता के ऊपर प्रेमचन्दजी के कलात्मक विवेक और संयम का सुदृढ़ नियंत्रण रहता है। भाषा को उपन्यास के पात्रों के जिस आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा उनकी जिस स्थिति और प्रवृत्ति का चित्रण करना रहता है, उसे वह सर्वथा स्वाभाविक रूप में ही चित्रित कर देती है, और इस कार्य में उसे पूरी सफलता इसलिए मिलती है कि वह प्रेमचन्दजी की अनुभूति का साथ भी नहीं छोड़ती।

अनुभूति की सचाई भाषा-शैली को सरल, स्वच्छ, सबल और शक्तिपूर्ण बना देती है। प्रेमचन्दजी नकली अनुभूति वाले कला-
ल, स्वच्छ, सबल कार नहीं हैं। इसी से इनकी भाषा-शैली भी
र कांतित्वपूर्ण शैली अनुकृत नहीं, अनुकरणीय होती है। उपन्यास की भाषा में जो सरलता और स्वच्छता होनी चाहिए, वही इनकी भाषा में रहती है। साथ ही, उसमें ओज भी रहता है और रस भी। देखिये—"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंत नगर यों सो रहा है, जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें, प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हें से मुख में न समाकर नीचे बह जाती हैं। = प्रभात की स्वर्ण-किरणों में न नहाकर माता का

पृ० ३१) ।"

"विपत्ति में हमारा मन अन्तर्मुखी हो जाता है ('ग़बन'—पृ० १६६) ।"

"मन एक भीरु शत्रु है, जो सदैव पीठ के पीछे से वार करता है ('रंगभूमि'—पृ० ४०३) ।"

"जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं, जब निराशा में भी हमें आशा होती है ('ग़बन'—पृ० १४०) ।"

"निराशा में प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है ('रंगभूमि'—पृ० ५०७) ।"

"संतान वह सबसे कठिन परीक्षा है जो ईश्वर ने मनुष्य को परखने के लिए गढ़ी है ('कायाकल्प'—पृ० ३०६) ।"

"संतान को विवाहित देखना बुढ़ापे की सबसे बड़ी अभिलाषा है ('कर्मभूमि'—पृ० ५२) ।"

"भोग-विलास, सैर-तमाशे से आत्मा उसी भाँति संतुष्ट नहीं होती, जैसे कोई चटनी और अचार खाकर अपनी क्षुधा को शान्त नहीं कर सकता ('कर्मभूमि'—पृ० २५) ।"

"जहाँ अपने विचार का राज हो वही अपना घर है ('कर्मभूमि'—पृ० २९२) ।"

"औरतों को अपने रूप की निन्दा जितनी अप्रिय लगती है उससे कहीं अप्रिय पुरुषों को अपने पेट की निन्दा लगती है ('निर्मला'—पृ० ४६) ।"

"पराश्रय से बड़ी विपत्ति दुर्भाग्य के कोष में नहीं है ('प्रतिज्ञा'—

पृ० ५०)।"

"मैले बर्त्तन में साफ पानी भी मैला हो जाता है। द्वेष से भरा हुआ हृदय पवित्र आमोद भी नहीं सह सकता ('प्रतिज्ञा' पृ० ११०)।"

"मनुष्य जिस काम को हृदय से बुरा नहीं समझता, उसके कुपरिणाम का भय एक गौरवपूर्ण धैर्य की शरण लिया करता है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ११)।"

"संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं··· ('गोदान'—पृ० २५६)।"

मुहावरों की भाँति इस प्रकार के अमर वाक्यों का प्रयोग भी ये उपयुक्त स्थान पर ही करते हैं; इच्छानुसार उन्हें, योंही, जहाँ-तहाँ ठूँस नहीं देते। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं अँगरेजी और फारसी के मुहावरे ये ज्यों-के-त्यों अनुवाद करके जड़ देते हैं—इस बात का कुछ कम ध्यान रखते हैं कि मुहावरों का विदेशीपन किसी भाषा के लिए कहाँ तक सह्य है और कहाँ तक असह्य। पर, इसे हम उतना आपत्ति-मूलक नहीं समझते, क्योंकि हिन्दी को इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वह इस 'असह्य' को धीरे-धीरे 'सह्य' बनाती चले। हाँ, इसका समर्थन हम कदापि नहीं कर सकते कि हिन्दी की वाक्य-रचना 'लखनवी उर्दू-व्याकरण' का ढङ्ग देखकर की जाय। जैसे—"नारियों की रक्षा करनी पुरुषों का धर्म है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३७२)।" "अनुमति मैं लेनी आवश्यक समझता हूँ ('कायाकल्प'—पृ० २६)।" "यही बातें कहनी चाहता हूँ ('कायाकल्प' पृ० १८१)।" जो "कमी थी उसे वह उपहारों से पूरी करनी चाहते थे ('निर्मला'—पृ० ५८)।" यहाँ करनी, कहनी और लेनी का प्रयोग बिल्कुल अच्छा

नहीं लगता।

भाव और शैली का समन्वय

भाव और शैली का समन्वय इनकी रचनाओं में सर्वत्र पाया जाता है। भावों के उत्कर्ष से इनकी भाषा-शैली उत्फुल्ल हो उठती है, और भाषा-शैली की सजीवता इनके व्यक्त किये हुए भावों को अत्यन्त बलशाली बना देती है। जहाँ कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर आता है वहाँ इनकी भाषा आपसे-आप कोमल, करुण, स्निग्ध और मधुर बन जाती है। जहाँ विचारों की उग्रता प्रकट करने की आवश्यकता आ पड़ती है, वहाँ इनकी भाषा के एक-एक शब्द में जैसे आग की चिनगारी आ बैठती है। 'रानी जाह्नवी' जब क्रोध के आवेश में आती हैं तब 'सोफिया'

बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना बेचैन हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा, अल्लाह तुम्हें बड़ा दरजा दे ('कर्मभूमि'—पृ० ४६)।" वही जब गुस्से में आ जाती है तब उसी 'अमर' को सम्बोधन करके आग-भरे शब्दों में कहती है "होश में आ छोकरे.........बस, अब मुँह न खोलना, चुपचाप चला जा, नहीं आँखें निकलवा लूँगी। तू है किस घमण्ड में? खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया! मुँह में कालिख लगाकर चला जा ('कर्मभूमि'—पृ० १७५)।"

जहाँ इन्हें किसी रहस्यात्मक भाव की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है वहाँ इनकी भाषा के भीतर शब्दों के एक प्रशान्त और माधुर्यपूर्ण वातावरण की सृष्टि हो जाती है। जैसे—"मैं वह हूँ जिसने न जाने कितने दिन हुए तुम्हारे हृदय में प्रेम के रूप में जन्म लिया था, और तुम्हारे प्रियतम के रूप में तुम्हारे यत्न, व्रत और सेवा से अमर होकर आज तक उसी अपार आनन्द की खोज में भटकता फिरता हूँ। कह नहीं सकता, कितनी बार तुम्हारे हृदय-मन्दिर के द्वार पर भिक्षुक बनकर आया ('कायाकल्प'—पृ० ५६२)।"

इनकी भावाभिव्यक्ति की प्रणाली विवरणात्मक भी होती है और संकेतात्मक भी। विवरण जहाँ आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं वहाँ, कहीं-कहीं, भाव और भाषा के समन्वय में कुछ दुर्बलता आ जाती है—विवरण मानों अपनी आकारवृद्धि के लोभ में पड़कर भाव-

रहते हैं और अपने पाठकों को भी परितृप्त करने की आशा रखते हैं। सीधी-सादी बातों को, सीधे-सादे ढंग से, सीधी-सादी भाषा में, व्यक्त कर देना ही इनका मुख्य उद्देश्य रहता है, इसीलिए ये शब्दों के अनावश्यक आडम्बर से अपनी भाषा-शैली तथा भाव-व्यञ्जना की प्रणाली को बराबर बचाये रहते हैं।



उद्देश्य-पालन

यह तो स्पष्ट है कि 'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त के आधार पर ये अपनी कला का निर्माण नहीं करते। इस सिद्धान्त की ओट में आजकल बेचारी 'कला' के नाम पर जो-जो साहित्यिक अनाचार किये जा रहे हैं उनके साथ इनकी प्रवृत्ति का कोई सम्पर्क नहीं रहता। अद्भुत और अस्वाभाविक नवीनता के साथ अर्थहीन शब्दों का आकर्षक आडम्बर खड़ा कर देना ही यदि कला के चिर-सुन्दर स्वरूप का विधान करना कहलाता हो तो निस्सन्देह ये कलाकार के इस क्षमता-शाली सौभाग्य से सर्वथा अभिवञ्चित हैं।

इनके उपन्यास खाली समय में दिल बहलाने का काम करके ही छुट्टी पा जाते हों, सो भी नहीं। वे मनोरंजक अवश्य होते हैं, किन्तु मनोरंजन करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य नहीं होता। वे हमारे मन से भी सम्बन्ध रखते हैं, और जीवन से भी। इनकी कला जीवन से ही निकलती है, और जीवन के लिए ही निकलती है। अतएव, जीवन के भिन्न-भिन्न तत्त्वों तथा सिद्धान्तों की सतर्क समीक्षा और सुस्पष्ट व्याख्या करना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है।

जीवन की बाहरी घटनाओं का मनोरंजक विश्लेषण करते हुए बीच-बीच में ये उसके भीतरी तत्वों की भी व्याख्या करते चलते हैं।

जीवन की समीक्षा जीवन क्या है, इसके सम्बन्ध में इनके मार्मिक विचारों पर ध्यान दीजिए—"वह क्या पुष्प से कोमल नहीं, जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती, और लिपटी रहती है? वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते नहीं? संसार में और कौन-सी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है, जिसे एक व्यंग्य, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है! और इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है ('रंगभूमि'—पृ० ८५५)!"

जीवन की समीक्षा करते समय उससे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तों की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कलाकार जब जीवन की

फल न मिलें तो भी यज्ञ का पुण्य तो मिलता ही है ('कर्मभूमि'-पृ० ५५१) !"

अच्छा काम करते हुए भी कभी-कभी कलंक का भागी बन पड़ता है। बहुत-से लोग इसी कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख भी जाते हैं। इससे समाज का भीषण अकल्याण होता है। इसीलि 'सूरदास' का कहना है कि "किसी आदमी का धरम है किसी को मैं देखे, तो उसे तसल्ली दे। अगर अपना धरम पालने में कल लगता है, तो लगे बला से। इसके लिए कहाँ तक रोऊँ ('रंगभूमि'-पृ० १६६) ?"

साधारण सांसारिक जीवन व्यतीत करनेवालों के संयम-नि सम्बन्धी सिद्धान्तों के रूप कैसे होने चाहिए, उसकी एक झल 'अमृतराय' के इन शब्दों में दीख पड़ती है—"पुष्टिकारक अ स्वादिष्ट भोजन को मैं मन और बुद्धि के स्वास्थ्य के लिये आवश् समझता हूँ। दुर्बल शरीर में स्वस्थ मन नहीं रह सकता। तार जानदार घोड़े पर सवार होने में है। उसे इच्छानुसार दौड़ा सकते मरियल घोड़े पर सवार होकर अगर तुम गिरने से बच ही गये क्या बड़ा काम किया ('प्रतिज्ञा'—पृ० २३६) ?"

नालायक से नालायक बाप भी सदैव यही कामना किया कर है कि उसका बेटा सत्पथगामी बने। जिसके साथ हमारी किसी प्रकार की आत्मीयता रहती है, उसके शील-स्वभाव या आचा व्यवहार की निन्दा हम, गहरी मानसिक वेदना का अनुभव किये बि

सुन ही नहीं सकते। हम भले ही बुरे हों, किन्तु जो हमारे 'अपने' हैं उन्हें हम सपने में भी बुराई की राह पर देखना पसन्द नहीं करते। फिर अपनी सन्तति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि उसके बाल-बच्चों की भलाई हो— और वह भलाई झूठी न हो। मानव-जीवन के इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व की व्याख्या 'दयानाथ' के इन थोड़े-से शब्दों में है—"मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि मेरा लड़का चाहे गरीब रहे, पर नीयत न बिगाड़े। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है, कि वह तुम्हें सत्पथ पर रक्खे ('गबन'—पृ० ११३)।"

किन्तु, अपने बच्चों को सत्पथ पर रखने के लिए, उन्हें आदर्श सदाचारी बनाये रखने के उद्देश्य से, बहुत-से लोग अनावश्यक और अस्वाभाविक सतर्कता तथा अरुचिकर नियंत्रण से काम लिया करते हैं। उन्हें लोगों से मिलने-जुलने नहीं देते, बाहर जाकर खेलने-कूदने भी नहीं देते। यह व्यवहार-नीति की एक बड़ी भारी भूल है। इसी भूल की ओर सैद्धान्तिक संकेत करते हुए प्रेमचन्दजी, मुन्शी 'तोताराम' के मित्रों से कहलाते हैं कि "खुली हवा में चरित्र के भ्रष्ट होने की उससे कहीं कम संभावना है जितनी बन्द कमरे में। × × × युवावस्था में एकान्तवास चरित्र के लिए बहुत ही हानिकर है ('निर्मला'-पृ० ६४)।"

जीवन की व्याख्या अथवा नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी ये दो प्रकार से करते हैं। एक प्रकार वह होता है जिसे हम अप्रत्यक्षात्मक या अभिनयात्मक कह सकते हैं और दूसरा वह जो प्रत्यक्षात्मक या

विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। एक ढंग तो यह है कि ये वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण-द्वारा ही जीवन की विभिन्न घटनाओं को उनके प्रकृत रूप में अंकित करते चलते हैं और उनके सम्बन्ध रखने-वाले नैतिक सिद्धान्तों का निरूपण भी आप-से-आप होता चलता है। अपने उपन्यासों में प्रायः ये इसी प्रणाली से अधिक काम लेते हैं। दूसरा ढंग यह है कि ये अपने पात्रों के कार्य-कलापों की, उनके आचार-विचार, रीति-नीति, आदि सभी बातों की, व्याख्या करके उनके सम्बन्ध में कुछ अपने सिद्धान्त भी स्थिर कर लेते हैं और प्रत्यक्ष रूप से, अपनी ही ओर से, उन सिद्धान्तों को आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में उपस्थित करते चलते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इनके पात्रों के मुख से जो सिद्धान्त की बातें निकलती हैं वे क्या इनके निजी विचारों से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं? रखती भी हैं और नहीं भी रखतीं। यह पता लगाना कठिन है कि अपने किस पात्र के किन जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों से इनके निजी सिद्धान्तों का मेल खाता है। इस प्रसंग में एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए। वह यही कि पात्रों के मुख से कहलाई गई अधिकांश बातें उनकी (पात्रों की) रुचि और प्रवृत्ति की ही अनुगामिनी होती हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक पात्र के प्रत्येक सिद्धान्त को प्रेमचन्दजी का ही सिद्धान्त मान लेना शुद्ध भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जा सकता। रुचि और प्रवृत्ति के भेद से सिद्धान्त-भेद का अटूट सम्बन्ध रहता है। यही कारण है कि 'सुमन' तो

कहती है कि "हमलोग विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम धर्म के पीछे चलता है ('सेवासदन'—पृ० २७५)।" और 'कमला' की राय में "प्रेम के संसार में आदमी की बनाई सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई मूल्य नहीं। विवाह समाज-संगठन की केवल एक आयोजना है ('प्रतिज्ञा'—पृ० ६६)।" अमरकान्त "प्रेम के सामने मजहब की हक़ीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं ('कर्मभूमि'—पृ० १२८)।" सकीना के साथ विवाह करने के विषय में वह "अपनी आत्मा को समाज का गुलाम नहीं बनाना चाहता" और समझता है कि "यह मुआमला मेरे और सकीना के दरमियान है। सोसाइटी को हमारे बीच में दखल देने का कोई हक नहीं ('कर्मभूमि'—पृ० १२६)।" किन्तु, 'विनय' को प्राणों से भी बढ़कर प्यार करनेवाली 'सोफ़िया' की राय में विवाह-जैसे "सामाजिक संस्कारों के लिए अपने सम्बन्धियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य है, अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं ('रंगभूमि'—पृ० ७२५)।" प्रेम, विवाह, धर्म, कर्म, रीति, रिवाज आदि भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले नैतिक सिद्धान्तों के जो भिन्न-भिन्न रूप इनके उपन्यासों में पाये जाते हैं वे अधिकतर इनके पात्रों की चरित्र-भिन्नता के ही द्योतक हैं।

जीवन की समीक्षा करते हुए ये सत्यता का साथ कभी नहीं छोड़ते। वह सत्यता उपन्यासों में वर्णित घटनाओं तथा स्थितियों की वास्तविकता से सम्बन्ध रखती है, और वास्तविकता की उपेक्षा करते चलना इनकी कला का स्वभाव

सत्यता और कल्पना

नहीं। किन्तु, इनकी औपन्यासिक सत्यता या वास्तविकता में कल्पना रहती ही नहीं, सो बात नहीं। वह भी रहती है और उसमें ऐसी घुली-मिली रहती है, जैसे दूध में पानी। इसके द्वारा अंकित किये गये जीवन-चित्रों में वास्तविकता और कल्पना के रंगों का सम्मिश्रण जितना उपयोगी है उतना ही आकर्षक भी है। इनके उपन्यासों में हम केवल उन्हीं बातों का उल्लेख नहीं पाते जो हमारी आँखों के आगे हो चुकी हैं या प्रति पल होती रहती हैं, अपितु, उनमें उन बातों का भी उल्लेख रहता है जो हो सकती हैं—जिनका होना असंभव नहीं है। जो असंभव है, वही असत्य है। जो संभव है, वह सत्य भी है। जो आज 'संभावना' के नाम से पुकारी जाती है, वही कल 'सत्यता' का नाम ग्रहण कर सकती है, क्योंकि आज जिसे हम 'सत्यता' कहते हैं, शायद, कल वही किसी के लिए केवल 'संभावना' ही रही होगी। जो कल्पना इस 'संभावना' की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती वही साहित्य-कला में 'सत्यता' की अभिन्न संगिनी समझी जाती है। प्रेम-चन्दजी की कल्पना ऐसी है।

तथ्यवाद और आदर्शवाद

कल्पना के स्वरूप-विधान में कल्पना करनेवाले की रुचि का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जैसी हमारी रुचि रहती है, हमारी मनोवृत्ति का जैसा आग्रह होता है, वैसी ही हमारी कल्पनाएँ भी हुआ करती हैं। उच्च आदर्श तथा पवित्र विचारों की छाया में चलनेवाली कल्पना ही साहित्य में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की सृष्टि कर सकती है। प्रेमचन्दजी की कृतियों में हम इसी प्रकार

की मंगलमयी कल्पनाओं का प्रधान्य पाते हैं। यही कारण है कि उनमें (कृतियों में) वास्तविकता के अवाञ्छित उपकरणों का प्रवेश नहीं हो पाता। जीवन की नग्न यथार्थता से इनकी कला सदैव बची रहती है। 'चक्रधर' के शब्दों में, इनका कहना है कि "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम-यथार्थ ही को आदर्श मान लें तो संसार नरक-तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर न पड़नी चाहिये, बल्कि दुर्बलताओं में भी 'सत्य' और 'सुन्दर' की खोज करनी चाहिये ('कायाकल्प'—पृ० १५२)।" परन्तु दुर्बलताओं के भीतर से 'सत्य' और 'सुन्दर' को खोज निकालने के लिए कलाकार का कर्त्तव्य क्या है? यही कि वह अपनी कला में 'तथ्यवाद' और 'आदर्शवाद' का उचित सामञ्जस्य संस्थापित करे। प्रेमचन्दजी ऐसा ही करते हैं। वास्तविकता के उपकरणों का चयन करते समय ये सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं कि वे इनकी रचनाओं को अश्लील या कुरुचि-पूर्ण बनानेवाले न हों। साथ ही, अपने आदर्शवाद को भी ये इतनी ऊँचाई पर रखकर नहीं चलते कि उसके साथ वास्तविकता का कहीं मेल न हो सके। 'है' और 'होना चाहिये' को मिलाकर ही, ये अपनी कला का निर्माण करते हैं। ये तथ्यवादी भी हैं और आदर्शवादी भी। इस बात में रवि बाबू से ही इनका मेल खाता है, शरत् बाबू और 'प्रसाद' जी से नहीं—क्योंकि ये 'गोरा'-जैसे कल्पना-मिश्रित तथ्यों की विवेचना करनेवाले आदर्शवाद-प्रधान उपन्यासों की ही रचना करते हैं, अनावृत्त और अमिश्रित वास्तविकताओं से भरी हुई

कहानी कहनेवाले 'चरित्रहीन' और 'कंकाल'-जैसे नग्न यथार्थवादी उपन्यास नहीं लिखते।

इनके आदर्शवाद के कारण कुछ लोग इन्हें 'उपदेशक' या 'प्रचारक' की ही संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका ऐसा समझना कहाँ तक युक्तिसंगत है, यह वे ही जानें।

नीति शिक्षा और उसका कलात्मक मूल्य

हम तो यही समझते हैं कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया ही नहीं जा सकता। जो कलाकार अपनी कला में अपने उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा नहीं करता, वह और करता क्या है? उसकी कला का अस्तित्व ही फिर किस लिए है? पवित्र उद्देश्यों तथा नीति से सम्बन्ध रखनेवाले लोकोपयोगी विचारों का बहिष्कार करके कला के मंगलमय रूप का विधान कैसे किया जा सकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। समझ में आने लायक बात यह है भी नहीं।

सुन्दर भावों का प्रसार करना भी कला का एक पुनीत कर्त्तव्य है। लोक-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली नीति-शिक्षा की उपेक्षा करके वह समाज के भीतर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती। जीवन, जब नैतिक तत्त्वों या उच्च आदर्शों से सम्बन्ध तोड़ लेता है तब वह जीवन नहीं रह जाता। तब वह कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं, उसके विकास का प्रबल बाधक ही बन जाता है। चोरों, डाकुओं और हत्यारों तक के कुछ अपने नैतिक सिद्धान्त और नियम होते हैं। उनके जीवन-व्यापार पर भी उनके उन सिद्धान्तों और नियमों का नियंत्रण

पात्रों के जीवन की गंभीर अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं।

वास्तविक घटनाओं का चित्र ही ये ऐसे ढंग से खींचते हैं, इनकी वस्तु-विन्यास तथा चरित्र-चित्रण की प्रणाली ही ऐसी है कि उसके द्वारा जीवन के शिक्षाप्रद अंगों का परिचय आपसे आप मिलता चलता है। इसलिए, इनके साहित्य में नीति-शिक्षा की जो बातें आती हैं वे बाहर की नहीं होतीं। सच तो यह है कि प्रभावशाली नीति-शिक्षा और जीवन का सम्बन्ध इतना स्वाभाविक और सुदृढ़ है कि साहित्य के लिए नीति बाहर की वस्तु हो ही नहीं सकती। जबतक कला का उद्देश्य मानवीय भावों और विचारों को परिष्कृत करना तथा उन्हें समुन्नत बनाना रहेगा, तबतक वह नीति-शिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचन्दजी की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिए, इनके उपन्यासों में उच्चादर्श तथा नीति-शिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है और सदैव बना रहेगा।



सफलता के मार्ग में थोड़ी-बहुत बाधा भी उपस्थित कर देती है। प्रेमचन्दजी की भाषा पर उर्दू-शैली का प्रभाव है—और यह प्रभाव इनकी उपन्यास-कला के सौन्दर्य्य का एक सुदृढ़ संरक्षक है। सारांश यह कि हमारे ये दोनों ही श्रेष्ठ कलाकार संस्कृति, प्रवृत्ति, भाव, भाषा आदि सभी बातों के नाते, दो भिन्न चीज हैं और, इसीलिए, इन दोनों की उपन्यास-कला के भी दो भिन्न स्वरूप हैं। प्रसादजी का 'कंकाल' अनावृत्त और अमिश्रित वास्तविकताओं से भरी कई मार्मिक कहानी कहनेवाला एक कटु सत्यवादी उपन्यास है और प्रेमचन्दजी का 'सेवासदन' है कल्पना-मिश्रित तथ्यों की विवेचना करनेवाला आदर्शवादी उपन्यास। एक उपन्यास हमें यही बताता है कि हम कैसे हैं, दूसरा यह भी बता देना अपना कर्त्तव्य समझता है कि हमें किस तरह के होने चाहिए। दोनों ही हमारी सामाजिक स्थिति की ही व्याख्या करते हैं, किन्तु दोनों हैं दो 'प्रकार' के।

पं० विश्वम्भरनाथजी शर्मा 'कौशिक' की रचना-शैली प्रेमचन्दजी की रचना-शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। किन्तु

प्रेमचन्द और 'कौशिक'

प्रेमचन्दजी की विशेषताओं से ये सर्वथा अभिवञ्चित हैं। इनकी 'भिखारिणी' में और 'माँ' में वस्तु-विन्यास की वह सुन्दरता, चरित्र-चित्रण की वह सजीवता, भाषा-शैली की वह सुषमा, नहीं पाई जाती जो प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में सर्वत्र विद्यमान है।

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में प्रेमचन्दजी की रचनाओं

से एक विशेषता है। इनके 'गढ़ कुंडार' और 'कुंडलीचक्र' नामक उपन्यासों में मानवीय भावनाओं के साथ प्राकृतिक दृश्यों के जिस मधुर सामञ्जस्य की सृष्टि की गई है, वह हिन्दीवालों को अँगरेजी भाषा के सुप्रसिद्ध औपन्यासिक 'स्कॉट' की याद दिलाता है। इस बात में मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'सम्राट् अशोक' और 'छत्रसाल' के यशस्वी लेखक, श्रीबालचन्द नानचन्द शाह वकील के साथ भी वृन्दावनलालजी की तुल।ा बड़े मजे में की जा सकती है। इनका 'प्रेम की भेंट' नामक उपन्यास तो भाव-सौंदर्य्य की दृष्टि से भी प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की समता का दावा करता है—और उसका यह दावा बहुत दूर तक ठीक है। किन्तु प्रेम-चन्दजी के उपन्यासों में, वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि के अतिरिक्त, जीवन के जो नाना रूपात्मक चित्र देखने को मिलते हैं, उनको ये (वृन्दावनलालजी) अपने उपन्यासों में अंकि कर नहीं सकते।

प्रेमचन्द और वृंदावनलाल

श्री चतुरसेनजी शास्त्री की 'हृदय की प्यास' तथा 'हृदय की परख' और पाण्डेय बेचन शर्माजी 'उग्र' के 'चन्द हसीनों के खुतूत' तथा 'दिल्ली का दलाल' भी अच्छे उपन्यास हैं—बहुत अच्छे। इन दोनों ही उपन्यास-लेखकों के भाव प्रायः एक-से हैं, रुचि एक-सी है। दोनों ही के हृदय में एक आग-सी धधकती रहती है, दोनों ही की वाणी में आग की चिनगारियाँ भरी रहती हैं। दोनों ही समाज के काले रूप का ही चित्र उतारते हैं, किन्तु इनके चित्रों में

प्रेमचन्द तथा चतुरसेन और 'उग्र'

एक अनूठा कलात्मक सौन्दय्य रहता है। इनके बनाये नरक भी इतने सुन्दर और आकर्षक होते हैं कि उनमें अच्छे-अच्छों के गिर पड़ने का खतरा रहता है। ऊँचे आदर्शों या गंभीर-नैतिक सिद्धान्तों के साथ तो इनकी कला का सम्बन्ध प्रायः नहीं-ही के बराबर है और उस नाते ये दोनों ही प्रेमचन्दजी के ठीक विपरीत चलते हैं। सारांश यह कि प्रेमचन्दजी की कला का सौन्दर्य्य, सम्पूर्ण जीवन के सौन्दर्य्य का प्रतिनिधि है और उन दोनों की कला का सौन्दर्य्य है भाषा-शैली के सौन्दर्य्य का प्रतिबिम्ब-मात्र।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र कुमार

श्री जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख' हमारे वर्त्तमान कथा-साहित्य की एक चीज है और बड़ी कीमती चीज है। इसमें जो कुछ अंकित किया गया है वह—स्वयं प्रेमचन्दजी के शब्दों में—''अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसनेवाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो ('हंस—वर्ष ३, संख्या ४, पृष्ठ ६३)।'' कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्तस्तल की अलक्षित वेदना का इतना बढ़िया विश्लेषण प्रेमचन्दजी नहीं कर सकते। जैनेन्द्रजी से हिन्दी को बड़ी आशा है। इनकी वस्तु-विधान और चरित्र-चित्रण की प्रणाली में तो नवीनता है ही, भाषा-शैली भी बिल्कुल निराली है। किन्तु इसके (भाषा के) सम्बन्ध में हम यहाँ एक बात स्पष्ट कह देना चाहते हैं—इनके उपन्यासों की भाषा-शैली सुन्दर अवश्य है पर कहीं-कहीं वह स्वाभाविकता से बहुत दूर दीख पड़ती है।

इसका प्रधान कारण यही है कि वे अपनी भाषा को अँगरेजी और फ्रांसीसी भाषाओं के ढर्रे पर ढालने का प्रयास करते हैं। भाषा की यह अस्वाभाविकता ही जैनेन्द्रजी में एक खटकनेवाली बात है। प्रेमचन्द्जी इस बात से बराबर बचे रहने की कोशिश करते हैं, इसी से इनकी भाषा ठीक वैसी ही होती है जैसी कथा-कहानियों की भाषा होनी चाहिए।

अनुभूति-भेद

ऊपर जिन लेखकों का उल्लेख किया गया है उनमें केवल कौशिकजी ही ऐसे हैं जिनकी रचना-पद्धति प्रेमचन्द्जी की रचना-पद्धति से मिलने-जुलने का दावा कर सकती है। और जितने लोग हैं, उनकी कला और प्रेमचन्द्जी की कला के स्वरूपों में ही भिन्नता नहीं है, उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हैं। और, इस उद्देश्य-भिन्नता का एकमात्र कारण है अनुभूति-भेद। प्रेमचन्द्जी की कुछ अनुभूतियाँ, समय की प्रवृत्ति के नाते, पुरानी हो चली हैं। हमारे नये कलाकार अब जीवन का अनुभव नये ढंग से कर रहे हैं, उनकी जीवन-समीक्षा की प्रणाली भी नई बनती जा रही है और उसका अब एक ही विषय मुख्य रह गया है—'हृदय'। स्वभावतः उनकी कला के विधान में भी नये-नये उपकरणों का समावेश होता जा रहा है। पुराने लोगों में प्रसादजी ही एक ऐसे कलाकार हैं जिनके आदर्श तो पुराने हैं, पर जिनकी अनुभूति में नवीनता ही नवीनता भरी हुई है। किन्तु, यह सब होते हुए भी, प्रेमचन्द्जी हिन्दी के 'औपन्यासिक सम्राट्' हैं, इसमें सन्देह नहीं। इनके उपन्यासों ने हमारी

साहित्य-कला के लिए जो आदर्श स्थापित कर दिया है उसे कोई हिला नहीं सकता, मलिन नहीं बना सकता।

कलाकार के नाते, प्रेमचन्दजी का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है कि देश-विदेश के अन्यान्य समकालीन औपन्यासिकों के साथ इनका नाम लिया जाना धृष्टता का अपराध समझा जाय। इनकी रचनाओं में, स्थान-स्थान पर, विश्व-भावनाओं की जो विकास-रेखाएँ दीख पड़ती हैं वे इन्हें संसार के किसी श्रेष्ठ कलाकार के पास तक पहुँचानेवाले मार्ग का काम दे सकती हैं—देंगी ही। इस युग का कोई भी प्रश्न अब एक-राष्ट्रीय नहीं रह गया है—प्रत्येक प्रश्न के साथ किसी-न-किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व लगा रहता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यास भारत की उन गंभीर समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका सम्बन्ध एक-मात्र भारत के ही हितों से नहीं, सारे संसार के हितों से है। भारत की सुख-स्वतंत्रता समस्त मानव-जाति की सुख-स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करेगी, इसकी दुख-दीनता अभिशाप बनकर समूचे पृथ्वी-मण्डल पर मँडराती रहेगी। भारत हँसेगा तो दुनिया हँसेगी, यह रोयेगा तो दुनिया को भी रोते ही रहना पड़ेगा। इसी तरह, जो साहित्य इसकी वर्त्तमान अवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने का अवसर देगा, विश्व-साहित्य उसे कभी अपनी सीमा से बाहर रहने नहीं दे सकता। प्रेमचन्दजी का साहित्य ऐसा ही है। अतएव, देश तथा विदेश के

प्रेमचन्द तथा देश-विदेश के कुछ अन्य औपन्यासिक

उच्च कोटि के कलाकारों के साथ इनका नाम लिया जाना सर्वथा स्वाभाविक है—स्वाभाविक समझा जाना चाहिए ही। यहाँ हम अन्यान्य भाषाओं के उन्हीं चुने हुए औपन्यासिकों की कला के साथ इनकी कला का मिलान करना चाहते हैं, जो इनके समकालीन हैं तथा जिनके साथ इनका साम्य या पार्थक्य दिखाने का आधार अचल नहीं है।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी, प्रेमचन्दजी की ही तरह, कला में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करनेवाले लोकोपयोगी कलाकार हैं। जीवन और

प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ

जगत् की अवाञ्छनीय वास्तविकताओं को आकर्षक ढंग से चित्रित करके 'सनसनी' (Sensation) फैला देने का प्रयास ये भी कभी नहीं करते। साहित्य में सुरुचि और संयम का जो महत्त्व है, उसको ये दोनों ही कलाकार बराबर याद रखते हैं—याद ही नहीं रखते, अपनी कृतियों-द्वारा समाज के बीच उसके प्रसार की समुचित चेष्टा भी करते हैं।

वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन की जटिल समस्याओं पर विचार करने की प्रवृत्ति दोनों ही में प्रायः एक ही-सी है। परन्तु, उन समस्याओं को सुलझाने की क्षमता में रवि बाबू, प्रेमचन्दजी से बढ़-कर हैं। प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि ये समस्याओं की सृष्टि तो बड़े अच्छे ढंग से करते हैं परन्तु जब देखते हैं कि ये बुरी तरह उलझ गई, और अब अच्छी तरह सुलझाई नहीं जा सकतीं, तब तुरन्त ही उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों की मृत्यु करा

देते हैं—और इस तरह समस्याओं की समाप्ति आपसे-आप हो जाती है। ('रंगभूमि' में) सूरदास और विनय की मृत्यु इस कथन की सत्यता का प्रमुख आधार समझी जाती है। लेकिन, प्रश्न तो यह है कि आखिर उस स्थल पर, उस परिस्थिति में, और किया ही क्या जा सकता था? यह तो ठीक है कि जितनी ही कम मृत्यु कराई जाय, उतना ही अच्छा—क्योंकि पात्रों की मृत्यु अधिकतर लेखक की कलात्मक असमर्थता ही प्रकट करती है, उद्भावना-शक्ति की प्रौढ़ता नहीं। किन्तु जहाँ इसीसे कला के उद्देश्य की पूर्ति होती हो वहाँ क्या किया जाय? शेक्सपियर ने भी तो अपने सर्वोत्तम कहे जानेवाले सुप्रसिद्ध नाटकों में खास कर 'हेमलेट' में पात्रों की कुछ कम हत्याएँ नहीं कराई हैं! इसलिए 'सूरदास' और 'विनय' की मृत्यु के सम्बन्ध में हम कुछ आपत्ति नहीं कर सकते। पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेमचन्दजी के पात्र कभी-कभी इनकी निजी सुविधा के विचार से भी मर जाते हैं—जैसे 'गबन' की 'जोहरा' मरी है। रवि बाबू को ऐसी सुविधा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे ऐसे ही पात्रों का और उनकी ऐसी ही समस्याओं का सृजन करते हैं जिनको वे सम्हाल सकते हैं, जिनको अच्छी तरह सुलझा सकते हैं।

व्यक्तित्व के नाते, इन दोनों में जो अन्तर है वह तो है ही, भावुकता के नाते भी बहुत बड़ा अन्तर है। रवि बाबू की भावुकता के आगे प्रेमचन्दजी की भावुकता टिक नहीं सकती। परन्तु, एक बात माननी पड़ेगी। वह यही कि प्रेमचन्दजी की रचनाओं में जो विषय की

विविधता (Variety) रहती है—उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक रूपात्मक समस्याओं का जो अनुपम संघर्ष देखने को मिलता है—वह रवि बाबू की रचनाओं में भी नहीं पाया जाता।

प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र

श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय और प्रेमचन्दजी में स्पष्ट अन्तर यह है कि एक की कला में 'नारी-भाव' की प्रधानता रहती है, दूसरे की कला में 'पुरुष-भाव' की। एक कोमलता की व्यञ्जना करती है, दूसरी ओजस्विता की। एक की कहानी हृदय-संग्राम से सम्बन्ध रखती है, दूसरे की जीवन-संग्राम से। एक की कथा-सामग्री का क्षेत्र परिसीमित है, दूसरे की अति विस्तृत। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्दजी सम्पूर्ण जीवन की समीक्षा करते चलते हैं और शरच्चन्द्र अधिकतर हृदय की भावनाओं के ही विश्लेषण में लगे रहते हैं। यही कारण है कि शरत् बाबू की रचनाओं में कला के कोमल उपकरणों की जितनी अधिकता रहती है प्रेमचन्दजी की रचनाओं में उतनी नहीं। प्रेमचन्दजी की कला में नाना रूपात्मक जीवन की जो सम्पूर्णता और सजीवता पाई जाती है वह शरच्चन्द्र की कला में नहीं दीख पड़ती, इसका भी कारण यही है। इन दोनों ही कलाकारों के वस्तु-क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होते हैं और वस्तु-तत्त्व भी। इसी से प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में आदर्शवाद की प्रधानता रहती है और शरच्चन्द्र के उपन्यासों में यथार्थवाद की।

और, जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, शरत् बाबू के

रखनेवाले होते हैं, परन्तु 'हार्डी' प्रकृति-जगत् का साथ कभी नहीं छोड़ते। उनके पात्र प्रकृति की अंचल-छाया से अलग हटकर अपनी भावनाओं के सौन्दर्य्य का पूरा-पूरा विकास नहीं कर सकते— वे प्राकृतिक दृश्यों को अपनी अनुभूति का एक आवश्यक आधार बनाये रहते हैं। प्रेमचन्दजी अपने पात्रों की जीवन-घटनाओं के साथ प्रकृति की सहानुभूति का भाव तो प्रदर्शित करते चलते हैं, किन्तु, उसके बाह्य सौन्दर्य्य को—उसके मनोरम दृश्यों को—अच्छी तरह अंकित नहीं करते। जहाँ उन्हें उसके दृश्यों को अंकित करने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ दो ही-चार शब्दों में उसका ऊपरी वर्णन करके वे अपना काम चला लेते हैं। 'हार्डी' इस काम में ऐसी उदासीनता दिखा ही नहीं सकते। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की

दोनों ही के पात्रों की बातचीत का ढंग प्रायः एक ही-सा होता है—'[illegible]' के नाते दोनों औपन्यासिकों में बड़ी समता है।

प्रेमचन्द और 'गाल्सवर्दी'

विश्वविख्यात अंग्रेज़ी उपन्यास 'फारसाइट सागा' के लेखक 'जान गाल्सवर्दी' और प्रेमचन्दजी में इतना ही अन्तर है कि प्रेमचन्दजी जहाँ जीवन की साधारण अवस्थाओं के प्रभाव से तड़पते हुए, अन्न-वस्त्र के दुःख से दुखी, दीन-हीन प्राणियों की दशा का मार्मिक विश्लेषण करते हैं, वहाँ 'गाल्सवर्दी' की कला का क्षेत्र कम है। वे तो अधिकतर असाधारण वर्ग के असाधारण प्राणियों की असाधारण वेदना के ही विश्लेषक जान पड़ते हैं—साधारण मनुष्यों के, दीन-हीन प्राणियों के अभाव-कष्ट की कथा उनकी उपन्यास-कला के लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं रखती दीख पड़ती। हाँ, उनके कुछ नाटक ऐसे अवश्य हैं जिनमें समाज की उन्हीं सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है जो साधारण वर्ग के लोगों के सुख-दुःख से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, और जिन पर प्रकाश डालना ही प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का प्रधान काम होता है।

प्रेमचन्द और 'गोर्की'

रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार 'मैक्सिम गोर्की' अपनी रचनाओं में अपने देश की स्थिति का चित्रण उसी तरह करते हैं जिस तरह प्रेमचन्दजी। गोर्की वर्त्तमान रूस की सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के सबसे बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचन्दजी आधुनिक भारत की सामाजिक और

हमारी प्रकाशित उत्कृष्ट साहित्यिक पुस्तकें



मीरा की प्रेम-साधना

(आलोचना)

[लेखक-पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम०ए०प्रि०औरंगाबाद-कॉलेज]

इसके लेखक उच्च कोटि के एक भावुक कवि और हिन्दी तथा अंग्रेजी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मीरा की प्रेम-भावना का इतना बढ़िया विश्लेषण आजतक किसी ने नहीं किया। अपने विषय की यह एक अपूर्व पुस्तक है। प्रस्तुत द्वितीय संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण में बहुत-सी आवश्यक बातें बढ़ा दी गई हैं, फलतः इसका आकार-प्रकार पहले से दूना हो गया है। इसमें मीरा के पद भी जोड़ दिये गये हैं। गेट्-अप फर्स्ट क्लास। दाम ४॥)

साकेत-समीक्षा

[लेखक—श्रीप्रेमनारायण टंडन एम० ए०, सा० र०]

इस पुस्तक में टंडनजी ने गुप्तजी के 'साकेत' की ऐसी सुन्दर समीक्षा की है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय आनन्द से परिप्लावित हो जाता है। गुप्तजी के ऐसे गूढ़ और प्रच्छन्न भावों को भी खोलकर उन्होंने हमारे सामने रख दिया है, जिन तक सर्व-साधारण की पहुंच नहीं। 'साकेत' पर कुछ दूसरे विद्वानों की राय भी संपादक ने दे दिया है। आरम्भ में गुप्तजी की रचनाओं का एक

राष्ट्रीय भावनाओं के। गोर्की के 'मदर' (माँ) नामक उपन्यास की समस्याओं तथा 'रंगभूमि' की समस्याओं के स्वरूप में बड़ी समता है। 'डिकन्स' की तरह 'गोर्की' की रचनाओं में भी चोरों, डाकुओं पियक्कड़ों आदि के बड़े आकर्षक चरित्र-चित्रण देखने को मिलते हैं। वस्तुतः समाज के दीन-हीन, लांछित और बहिष्कृत लोगों के आभ्यन्तरिक जीवन की व्याख्या करने में ये कमाल करते हैं। 'कर्मभूमि' के 'काले खाँ'—जैसे दो-एक इसी वर्ग के पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रेमचन्दजी ने भी अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु ऐसा करते समय इन्होंने मार्मिकता से उतना काम नहीं लिया है जितना दार्शनिकता से। जिन्हें हम अधमता के पैरों तले लोटते देखते हैं और मनुष्य की तरह नहीं मानते, उनकी छीपी हुई मनुष्यता के मार्मिक उपकरणों का उद्घाटन और विश्लेषण करना 'गोर्की' की कला का मुख्य उद्देश्य रहता है, किन्तु प्रेमचन्दजी की कला का उद्देश्य रहता है उन्हें बाहरी नैतिक दृष्टान्तों द्वारा मनुष्यता के आदर्श रूप का बोध कराना।

कला की आत्मा का स्वरूप कहीं नहीं बदलता। उसके बाहरी रूप में ही पृथकता दीख पड़ती है। प्रेमचन्दजी की कला, बाह्य उपकरणों 'सत्यं-शिवं-सुंदरम्' के कारण, कुछ बातों में, औरों की कला से भले ही भिन्न दीख पड़े, किन्तु, वस्तुतः, उसकी आत्मा का भी स्वरूप वही है जो विश्व के सभी श्रेष्ठ कालाकारों की कला में सदा सत्य सुंदर और मगलमय बना रहता है।

हमारी प्रकाशित उत्कृष्ट साहित्यिक पुस्तकें

—:::::o:::::—

मीरा की प्रेम-साधना

(आलोचना)

[लेखक-पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम०ए०प्रि०औरंगाबाद-कॉलेज]

इसके लेखक उच्च कोटि के एक भावुक कवि और हिन्दी तथा अंग्रेजी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। मीरा की प्रेम-भावना का इतना बढ़िया विश्लेषण आजतक किसी ने नहीं किया। अपने विषय की यह एक अपूर्व पुस्तक है। प्रस्तुत द्वितीय संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण में बहुत-सी आवश्यक बातें बढ़ा दी गई हैं, फलतः इसका आकार-प्रकार पहले से दूना हो गया है। इसमें मीरा के पद भी जोड़ दिये गये हैं। गेट्-अप फर्स्ट क्लास। दाम ५॥)

साकेत-समीक्षा

[लेखक—श्रीप्रेमनारायण टंडन एम० ए०, सा० र०]

इस पुस्तक में टंडनजी ने गुप्तजी के 'साकेत' की ऐसी सुन्दर समीक्षा की है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय आनन्द से परिप्लावित हो जाता है। गुप्तजी के ऐसे गूढ़ और प्रच्छन्न भावों को भी खोलकर उन्होंने हमारे सामने रख दिया है, जिन तक सर्व-साधारण की पहुंच नहीं। 'साकेत' पर कुछ दूसरे विद्वानों की राय भी संपादक ने दे दिया है। आरम्भ में गुप्तजी की रचनाओं का एक

संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया है। पृष्ठ-संख्या २३६, छपाई-सफाई-कागज बहुत सुन्दर। मूल्य २॥)

छायावाद का पतन

[लेखक—डॉ० देवराज एम० ए०, पी० एच्० डी०]

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने किसी भी 'वाद' का पक्ष न लेकर छायावाद की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है, साथ-साथ स्थान-स्थान पर कुछ ऐसी सैद्धान्तिक सामग्री देते गये हैं, जो काव्य के मर्म को हमें स्पष्ट समझा देती हैं। लगभग सभी छायावादी कवियों की कविताओं का चुना-चुना उद्धरण देकर लेखक ने अपने विचारों को सुस्पष्ट कर दिया है। छपाई-सफाई-कागज सभी सुन्दर। मूल्य २)

जीवन-देवता की वाणी

[लेखक-प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम० ए० बी० एल०]

इस पुस्तक में जीवन-रूपी देवता का विश्लेषण किया गया है। हम अपने जीवन को कैसे शान्त, सुखी, प्रसन्न, उन्नतिशील और अच्छे कामों की ओर प्रेरित होनेवाला बना सकते हैं, भिन्न-भिन्न लेखों द्वारा लेखक ने इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या की है। जीवन को 'सफल जीवन' बनानेवाली देश-विदेश के अनेक ख्यात विद्वानों की बहुमूल्य सम्मितियाँ भी दी गई हैं। भूमिका लेखक श्रीयुत शिवपूजन सहायजी हैं। छपाई-सफाई-कागज सभी सुन्दर। मूल्य २॥)